UNIVERSAL
LIBRARY
OU_186517
UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—556—13-7-71—4,000

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. 181.4 D61S Accession No. P.G. H1338

Author दीक्षित, त्रिलोकीनारायण

Title संत दर्शन. 1963 -

This book should be returned on or before the date last marked below

संत दर्शन

लेखक
डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित एम० ए०, पी०-एच०.डी०:
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

भूमिका
महापंडित राहुल सांकृत्यायन

साहित्य निकेतन, कानपुर

प्रकाशक
साहित्य निकेतन
कानपुर

प्रथम संस्करण : सम्वत् २०१० (जुलाई १९५३) – १०००

मूल्य ४) जिल्द के लिए ।।) अतिरिक्त

मुद्रक { साधना प्रेस ११२ पृष्ठ तक
शेष पुस्तक शुभकामना प्रेस तिलक नगर,
कानपुर

जे पहुचें ते कहि गए तिन की एकै बात।
सबै सयाने एक मति तिनकी एकै जात॥

—दादू

जग रहु जगतें अलग रहु, जोग जुगति की रीति।
दूलन हिरदै नाम तें, लाइ रहौ दृढ़ प्रीति॥

—दूलन दास

धृग तन धृग मन धृग जनम, धृग जीवन जग मांहि
दूलन प्रीति लगाय जिन्ह, और निवाहो नाहि॥

—दूलनदास

मरते मरते सब मरे, मरै न जाना कोय।
पलटू जो जियते मरै, सहज परायन सोय॥

—पलटूदास

बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न पाया कोय।
जो दिल खोजा आपना, मुझ सा बुरा न कोय॥

—कबीर

पलटू मैं रोवन लगा, जरौ जगत की रीति।
जहं देखौं तहं कपट है, कासों कीजै प्रीति॥

—पलटूदास

मलूक सोई पीर है, जो जानै पर पीर।
जो पर पीर न जानई, सो काफिर बेपीर॥

—मलूकदास

कबिरा गर्व न कीजिए, कबहुँ न हंसिये कोय।
अजहूँ नांव ससुद्र में, ना जाने का होय॥

—कबीर

विषय-सूची

निवेदन
दो शब्द : श्री परशुराम चतुर्वेदी
भूमिका : श्री राहुल सांकृत्यायन
१—संत १
२—संत कवि और सद्गुरु १४
३—संतों की नाम प्रियता ३२
४—संतों की सहज समाधि साधना ४७
५—संतों की चेतावनी ६२
६—संतों के सूरमा ७४
७—संतों की प्रेम साधना ८६
८—संतों की विरहानुभूति १०४
९—संत कवि और नारी ११७
१०—संत कवि और खलजन १२८
११—संत कवि और शून्य १३५
१२—संत कवि और सोऽहं १५४
१३—संत कबीर का युग १६५
१४—संत कबीर—व्यक्तित्व का एक अध्ययन १८२
१५—संत बाउल १९५
१६—संतों के काव्यादर्श २०६
१७—संतों के लोक गीत २२९
१८—दुःखवाद और संत कवि २३३
१९—संत साहित्य की महान् परम्परायें २६४
२०—संतों की परम्परा में गांधी २७४
२१—कतिपय पारिभाषिक शब्द २९७

संत दर्शन के मर्मज्ञ

आचार्य

डाक्टर श्री रामकुमार वर्मा

एम० ए०, पी–एच० डी०

को

सादर एवं सप्रेम

समर्पित

निवेदन

'संत-दर्शन' सन् १९४८ से सन् १९५२ तक लिखित मेरे निबन्धों का संग्रह है। इनका प्रकाशन समय समय पर विभिन्न पत्रिकाओं में हो चुका है। इन लेखों में संतों के काव्य के रहस्यवादी पक्ष का विवेचन हुआ है। इन निबन्धों में अनेक ऐसे विषय आगये हैं जिन पर हिन्दी साहित्य में अभी तक कुछ भी नहीं लिखा गया है। इन में से कुछ विषयों में संतों की दार्शनिक विचारधारा एवं आध्यात्मिक साधना पर भी विचार किया गया है। 'संत कवि और शून्य', 'संत कवि और सोऽहम्', 'संतों के काव्यादर्श', 'संतों के लोक गीत', तथा 'दुःखवाद और संत कवि' निबन्धों में संतों के काव्य पर नवीन ढंग से विचार हुआ है। 'संतों की परम्परा में गान्धी' अगस्त सन् १९४८ में लिखा गया था और इस निबन्ध पर उत्तर प्रदेश की सरकार ने १०१) लेखक को पुरस्कार दिया था। 'संतों के काव्यादर्श' सन् १९५१ में ओरियन्टल कांफ्रेंस (हिन्दी विभाग) में पढ़ा गया था।

इस ग्रन्थ में संग्रहित विषयों पर लिखते समय लेखक को डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, महापंडित राहुल सांकृत्यायन, पंडित परशुराम चतुर्वेदी प्रभृति विद्वानों से सहायता मिली है। डा० दीनदयालु गुप्त एवं डा० रामकुमार वर्मा के आशीर्वाद इस लेखक की सफलता और लगन के आधार हैं। इन की प्रेरणा और प्रोत्साहन के अभाव में लेखक हर प्रकार से असमर्थता का अनुभव करता है।

इस ग्रन्थ के रचना काल में लेखक ने श्री शिवशेखर मिश्र एम० ए० प्राध्यापक लखनऊ विश्वविद्यालय के निजी पुस्तकालय से बड़ा लाभ उठाया। अनेक उपयोगी ग्रन्थों को सुलभ बनाने के लिए लेखक हिन्दी साहित्य पुस्तकालय मौरावां, के अधिकारियों तथा टैगोर लायब्रेरी लखनऊ विश्वविद्यालय के पुस्तकाध्यक्ष सरदार तारासिंह के प्रति कृतज्ञ है।

श्रद्धेय राहुल जी एवं पं० परशुराम चतुर्वेदी ने ग्रन्थ की भूमिका लिख कर ग्रन्थ का गौरव बढ़ा दिया है। इसके लिए लेखक किन शब्दों कृतज्ञता प्रकट करे।

त्रिलोकीनारायण दीक्षित

मौरावाँ, उन्नाव
२४-६-१९५३

दो शब्द

"सन्त दर्शन" आद्यान्त पढ़ गया। पढ़ कर बड़ा आनन्दित हुआ। आपने इसके लिखने में बड़ी लगन एवं अध्यवसाय के साथ काम किया है और तदनुरूप सफलता भी मिली है। आपने इसके लिए सारे संत साहित्य का मंथन कर डाला और उसका सारभाग निकाल लिया है। इसके लिए मैं आपको बधाई देता हूँ और आशा करता हूँ कि आप इस प्रकार का कार्य आगे भी करते जांयगे।

परशुराम चतुर्वेदी

बलिया
१८-६-५३

भूमिका

संत कवि कहने से काल और देश में बिखरे हम एक विशाल जाल के सूत्र को पकड़ लेते हैं, जिसको लेकर हम बढ़ते हुए भारतीय काव्य-साहित्य के आदि-स्रोत तक पहुंच जाते हैं। यद्यपि सबके बारे में नहीं कहा जा सकता, लेकिन अधिकांश संत कवि लोक कवि थे। जो लिखित या नागरिक साहित्य से सुपरिचित अतएव उसके आदर्श का पालन करने के लिए उद्यत थे, वह भी कितने ही समय तक लोक-साहित्य की ओर झुके थे। अति प्राचीन काल ही से वस्तुवादी और रहस्यवादी काव्य हमारी लोक-साहित्य-परम्परा में निर्मित होते आये हैं। वस्तुवादी साहित्य जनप्रिय होता है, जनगण की हृदय-तंत्री को वर्णित करने की उसमें अपार क्षमता है, लेकिन उसकी सबसे बड़ी कठिनाई यह है, कि वह चिरस्थायी नहीं रहता, अथवा ठीक तौर से कहने पर कहा जा सकता है, कि वह 'यत् सत् क्षणिकं' (जो सद्वस्तु है, वह क्षणिक है, अचिरस्थायी होती है)। इस प्रकार वह रूप बदलता रहता है, जो अधिकतर भाषा में; भाव में तो लोक-साहित्य में इतनी एकता है कि उसके लिए विश्व के पांचों महाद्वीप भी एक से हैं। लोक-साहित्य के वस्तुवादी अंग में अपार रस, अपार उद्बोधन शक्ति है, लेकिन अलिखित और बराबर रूप-परिवर्तन करने वाला होने से उसके नमूने आसन्न वर्तमान के ही मिल सकते हैं। हां, लोक-साहित्य के रहस्यवादी अंग के नमूने अधिक चिरस्थायी होते हैं, क्योंकि उनका सम्बन्ध किसी न किसी सम्प्रदाय या मज़हब के साथ होता है, तथा सम्प्रदाय के प्रचारक उसकी रक्षा करना अपना धर्म समझते हैं।

वेद की पुरानी ऋचायें भी अधिकतर लोक-साहित्य के रूप में अस्तित्व में आई होंगी, और उसके भी वस्तुवादी और रहस्यवादी पहलू रहे होंगे, जिनमें वस्तुवादी अंश अधिकतर कालकवलित हो गया, और रहस्यवादी—जिसे आंशिक तौर से देववादी भी कह सकते हैं—बचा रह गया। वेद के मंत्रों में रहस्यवाद अधिकतर देववाद के रूप में मिलता हैं, क्योंकि आदिम मनुष्य के सामने भौतिक शक्तियां भी रहस्यमय दिव्य रूप में आती हैं। आगे उपनिषद में तो हमें रहस्यवाद स्पष्ट मिलता है।

इस प्रकार संत साहित्य के उद्गम के लिए हमें अपने प्राचीनतम स्रोतों तक जाना पड़ेगा। ऐतिहासिक काल (बुद्ध के समय) से तो हमें संतों की परम्परा स्पष्ट दीख पड़ती है। वेदकाल में इन्हीं को ऋषि कहा जाता था, फिर मुनि, जो कि उसी अर्थ में बुद्ध-काल में भी मौजूद था। बहुप्रचार से शब्दा का मूल्य कम हो जाता है, लेकिन यह बात रहस्यवादी क्षेत्र पर लागू नहीं होती। ऋषि चिर परिचित और बहुप्रचलित शब्द है, लेकिन वह इतना ऊंचा समझा जाने लगा, कि किसी योग्य से योग्य व्यक्ति के लिए भी उसका उपयोग मुश्किल हो पड़ा। मुनि के चोले में वह बुद्धकाल में भी गिने चुने लोगों के लिए इस्तेमाल होता था। पीछे उसका भी तल इतना ऊंचा हो गया, कि उसके पास तक पहुंचना बड़े से बड़े मनीषी के लिए भी मुश्किल हो पड़ा, इसलिए रहस्यवाद के विशेषज्ञों या महापुरुषों को सिद्ध कहा जाने लगा। चौरासी सिद्ध इसी पदवी से पुकारे जाते थे, और चौरासी की सूची पूरी हो जाने पर दूसरों को उसमें शामिल नहीं किया जा सकता था। इस काल में तथा इससे पहले सन्त शब्द का अभी उतना मूल्य नहीं बढ़ा था, और उसे सत्पुरुष का ही वाचक समझा जाता था। यह भी स्मरण रखने की बात है, कि अशोक और उसके एकाध शताब्दी बाद तक 'सपुरिस' (सत्पुरुष) मुक्त या

निर्माण-प्राप्त पुरुष को कहा जाता था। अस्तु। सन्त पहले भले आदमी को किन्तु ऊंचे दर्जे के व्यक्ति को कहा जाता था। सन्त शब्द ही का स्त्रीलिंग सती है, यद्यपि वह असाधारण स्त्री के लिए ही प्रयुक्त होता था। लेकिन सन्त का मूल्य उसमें नहीं लाया जा सका, इसलिए जब महिला सन्तों के लिए जरूरत पड़ी, तो संतनी कहा जाने लगा। इस प्रकार ऋषि, मुनि, सत्पुरुष, सिद्ध, सन्त एक ही तरह के व्यक्तियों के नाम हैं, जो रहस्यमय पुरुष समझे जाते थे। इन सबको लोक-साहित्य के रहस्यवादी परम्परा का नेता कहा जा सकता है। लोक-साहित्य के इतने सुदृढ़ स्तम्भ यदि सारे काल में समय समय पर नहीं पैदा हुये होते, तो बहुत सा इस प्रकार का साहित्य आज दिखलाई न पड़ता।

सन्त काव्य को हमें उसकी पृष्ठभूमि और काल सीमा के भीतर देखना होगा, तभी हम उसको वास्तविक तौर से समझ सकते हैं। रहस्यवादी होने पर भी लोक-साहित्य होने के कारण सन्त-काव्य वस्तुवाद को बिलकुल छोड़ नहीं सकता था, इसीलिए तो सन्त कबीर ने कहा 'भूखे भजन न होय गोपाला' अथवा 'कहैं कबीर कुछ उद्दिम कीजै, आप खाइ अवरन को दीजै।' कबीर की यह वस्तुवादी दृष्टि केवल गीतों में ही नहीं पाई जाती, बल्कि हाथ के काम विशेषकर उत्पादक श्रम से भागने वाले साधुओं में कबीर साहब की परम्परा में ऐसे मठ और साधु मिल सकते हैं, जो अपने हाथ से किसी भी हलवाहे की तरह छः घण्टे हल चलाते और खेती के सभी कामों को एक किसान की तरह कर सकते हैं। विलक्षणता रखते हुये भी सिद्ध और सन्त जनसाधारण से अपने को दूर नहीं हटाना चाहते, बल्कि वह जन-समुद्र में इतने डूबे रहते थे, कि उनकी विलक्षण उक्ति या सरहपा, कुकुरीपा, ओखलीपा जैसों के विचित्र चाल-व्यवहार ही उन्हें जन साधारण से अलग दिखलाने में सहायक होते थे।

सन्त काव्य हिन्दी साहित्य की एक बहुमूल्य निधि है, यद्यपि उसमें रहस्यवाद, अतिलौकिकवाद की पुट अधिक होने से यह नहीं कहा जा सकता, कि उस का सभी अंश एक सा चिरस्थायी रह सका। सन्त काव्य एक पूर्ण शरीर है, जिस के अंग को देखकर हम उसका पूरा परिचय नहीं प्राप्त कर सकते। अभी तक सन्त काव्य का आनन्द एक-एक सन्त की वाणी से लेने का ही रवाज था, यद्यपि सन्त बराबर इस बात की चेतावनी देते थे कि सन्त-सन्त में कोई भेद-भाव नहीं करना चाहिये। 'सन्त सन्त सब एक हैं, जस·····को फूल', इसे हम हिन्दुओं के सैकड़ों सम्प्रदायों और इस्लाम के सन्तों की जीवनियों में पाते हैं। "भक्तमाल" यद्यपि सन्तमाला है, और सन्तों की परम्परा के अनुसार उसमें बाबा फरीद और दूसरे सन्तों का भी नाम होना चाहिये। यह कमी होते भी यह तो हम देखते हैं कि सन्तों की महिमा वर्णन करने वाली इस पुस्तक में भारत के अनेक जातियों, कुलों और देशों में पैदा हुये सन्तों के प्रति दिल खोलकर श्रद्धांजलि दी गई है। सन्त-काव्य का आनन्द लेने के लिए सारे सन्त वाङ्मय का सामने होना आवश्यक है। लेकिन सारे वाङ्मय का अव्वल तो सुलभ होना बहुत मुश्किल है, और दूसरे उसके अवगाहन के लिए पर्याप्त समय निकालना भी विरलों के लिए सम्भव है। बहुत थोड़े से सन्तों की पूरी ग्रन्थावलि निकली है, सन्तवाणी का संग्रह भी अधिकतर एकांगी देखा जाता है। सन्त कविता में रहस्यवाद है, साथ ही वस्तुवाद भी। और इन सब के साथ उसमें असाधारण काव्य रस मिलता है। हरेक संत की सांगोपांग ग्रंथावलियों की आवश्यकता है, जिसका न होना हमारे साहित्य प्रेम की अपरिपक्वता को बतलाता है। लेकिन, सन्त वाङ्मय विस्तृत परिमाण में सुलभ होने पर भी सोपान से ही हमें वहां पहुंचना पड़ेगा। ऐसे सोपान या प्रकरण ग्रंथ की हरेक विषय में आवश्यकता होती है। प्रकरण ग्रंथ का काम है विषय का दिग्दर्शन

कराते हुये पाठक में आगे बढ़ने के लिए तीव्र जिज्ञासा पैदा कर देना। यदि प्रकरण, ग्रंथ ऐसी सीढ़ी हुई, जिस पर पैर रखते ही आदमी थक कर आगे बढ़ने की हिम्मत छोड़ दे, तो हम उसे सोपान नहीं कह सकते।

"सन्त-दर्शन"—डा० त्रिलोकीनारायण दीक्षित का यह ग्रंथ सन्त-काव्य के लिए सचमुच ही अत्यन्त उत्कृष्ट प्रकरण ग्रंथ है। 'गागर में सागर' का इतना साधारण प्रयोग होने लगा है कि उससे इस ग्रंथ के महत्व को हम नहीं बतला सकते। सागर को गागर में डालने के लिए बहुत सावधानी और पारखी बुद्धि की आवश्यकता होती है, उसके लिए अधिक गम्भीर अध्ययन की जरूरत पड़ती है, और वह बात दीक्षित जी ने यहां की है। अपने ३०० पृष्ठ के इस छोटे से ग्रंथ में उन्होंने सन्त-काव्य के समझाने के लिए सारे साधन उपस्थित कर दिये हैं। बेकार के बड़े-बड़े विश्लेषणों में पाठक को जंगल में भुलाने का प्रयत्न यहां कहीं नहीं है। हरेक चीज स्पष्ट है, सरल और सुबोध रीति से गंभीर विवेचन और उसके बाद सन्तों की वाणी से उद्धरण। मानो धर्मदास किसी भक्त को कुछ शब्दों में सीधे सन्त कबीर के सामने उपस्थित कर के कहते हैं—"यह लो, तुम जानो, तुम्हारा काम जाने।" प्रकरण ग्रंथ को पहले-पहल हाथ लगाने वाले को यह जरूरी नहीं है कि अल्पपठित या अल्पक्षमता वाले हों, क्योंकि सुपठित और सुन्दर क्षमता रखने वाले व्यक्ति भी नये विषय में अल्पज्ञ ही कहे जा सकते हैं। इसलिए प्रकरण ग्रंथ में उनको संतुष्ट और उत्साहित करने की योग्यता होनी चाहिये। यह देख कर प्रसन्नता है कि दीक्षित जी अपने काम में सफल हुये हैं। उन्होंने पदों का बहुत मनन और विवेक के साथ संग्रह किया है। ग्रंथ के लिए अनावश्यक किन्तु वैसे महत्वपूर्ण पदों को भी छोड़ देने में कुण्ठित नहीं हुये, जिसके कारण ग्रंथ का कलेवर बढ़ने नहीं पाया और प्रवेशार्थी कार्य को साध्य समझ

कर उसके भीतर आसानी से हाथ भी लगा सकता है।

दीक्षित जी ने सन्त-काव्य के रहस्यावादी पहलू की सभी विशेषताओं—सत्गुरु, नाम, सहज समाधि, चेतावनी, सूरमा, प्रेम, बिरह, नारी, खल, शून्य, सोऽहं—पर विवेचन करते हुये उनके उद्गम स्थान तक पहुंचने और सन्त-परम्परा को सन्त गांधी तक जोड़ने का प्रयत्न किया है। शायद सारे सन्त-वंश में वेद से लेकर आधुनिक काल तक कोई ऐसा सन्त नहीं मिलेगा, जिसने पद न कहे हों। रहस्यवादी होने के साथ कवि होना सन्त के लिए आवश्यक है, ऐसा मानने पर गांधी जी को हम सन्त माला के भीतर नहीं गूंथ सकते।

'सन्त-दर्शन' सन्तों और उनके काव्य के समझने में बड़ा सहायक सिद्ध होगा, यह हमें विश्वास है। साथ ही यह भी कि अगले संस्करण में कलेवर को बहुत न बढ़ाते दीक्षित जी इस प्रकरण-ग्रंथ को और गुणपूर्ण बनायेंगे।

राहुल सांकृत्यायन

मंसूरी, ७—६-५३

संत

'संत' शब्द का प्रयोग आज 'सज्जन,' 'साधु', 'भक्त' एवं 'सत्पुरुष' के अर्थ में प्रचलित है। आज 'संत' शब्द किसी भावना, अवस्था या विशेष विचार-धारा वाहक व्यक्ति का द्योतक नहीं रहा जैसा कि पूर्व समय में था। इतना ही नहीं, आज 'संत' शब्द का प्रयोग शिथिल होता जा रहा है और हिन्दी में 'संत' शब्द सगुण, निर्गुण, सूफी, बाउल तथा सभी प्रकार के महात्माओं के लिए प्रयुक्त होता है। किसी समय यह शब्द केवल उन्हीं भक्तों के लिए प्रयोग में आता था जो विट्ठल अथवा वारकरी सम्प्रदाय के मुख्य प्रचारक थे। इनकी साधना का आधार मुख्यतया निर्गुण-भक्ति थी। उस कोटि के भक्तों में ज्ञानदेव, नामदेव एवं तुकाराम विशेषतया उल्लेखनीय हैं। प्रो० रानाडे के मतानुसार कालान्तर में 'संत' शब्द रूढ़ि सा बन गया और इस शब्द का प्रयोग केवल उन्हीं व्यक्तियों के लिए सीमित हो गया जो विट्ठल सम्प्रदाय के अनुयायी थे।[१]

१. Now 'Santa' is almost a technical word in the Vitthal Sampradaya, and means any man who is a follower of that Sampradaya. Now that the followers of other Sampradaya are not 'Santas' but the followers of the Vara Kari Sampradaya are Santas par excellence.—Mysticism in Maharastra by R. D. Ranade (P. 42)

चिन्तन पद्धति, व्यवहार जगत एवं दार्शनिक सिद्धान्तों में अधिकांश महाराष्ट्र के उन्हीं संतों से विचार सादृश्य रखने के कारण कबीर तथा उनके पश्चात् होने वाले अन्य निर्गुणियों के साथ भी संत शब्द व्यवहृत होने लगा। महाभारत में 'संत' शब्द का प्रयोग सदाचारी के लिए हुआ है।[१] भागवत में 'संत' का प्रयोग पवित्रात्मा के अर्थ में हुआ है।[२] भर्तृहरि ने 'संत' का प्रयोग परोपकारी[३] और कालिदास ने बुद्धिमान के अर्थ में किया है।[४] 'धम्मपद' में 'संत' शब्द शांत के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है।[५] संस्कृत में इसका प्रयोग 'अच्छा' के अर्थ में होता है। रामचरितमानस में सज्जन, 'साधु', 'सत्पुरुष' एवं 'भक्त' शब्द 'संत' के पर्यायवाची शब्द माने गए हैं।

'संत' शब्द की व्युत्पत्ति विवादास्पद है। डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल का मत है कि 'संत' शब्द की उत्पत्ति दो प्रकार से सम्भव है। वह 'सत्' का बहुवचन हो सकता है। जिसका हिन्दी में एक वचन में प्रयोग हुआ है, अथवा 'शांत' का अपभ्रंश रूप हो सकता है, जैसा पाली भाषा में होता है। पहली व्युत्पत्ति से संत के माने होंगे जो सत् है अथवा जिसे 'सत्' की अनुभूति हो गई है; दूसरी से, जिसकी कामनाएं शांत हो चुकी हैं। दोनों

---

१ आचारलक्षणां धर्मः सन्तश्चाचारलक्षणाः।

२ प्रायेण तीर्थाभिगमापदेशैः स्वयं हि तीर्थानि पुनन्ति संतः॥ स्क० १ अ० १६ श्लो० ८

३ सन्तः स्वयं परहिते विहिताभियोगाः।

४ सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते मूढः परं प्रत्ययनैय बुद्धिः

५ सन्तं अस्स मनंहोति—अर्हन्तवग्ग, गाथा ७
तथाः- अधिगच्छे पदे सन्तं संखरूपसमं सुखं। भिक्खुवग्ग, गाथा ६

अर्थ संत पर ठीक उतरते हैं"।[1] वेददर्शनाचार्य श्रीमण्डलेश्वर श्रीस्वामीजी श्री गंगेश्वरानन्दजी महाराज के शब्दों में "संत शब्द चार तरह से बन सकता है—'षण सम्भक्तौ' ४६५ धातु से औणादिक तन् प्रत्यय करने से निष्पन्न संत शब्द का अर्थ 'सनति सम्भवति लोकाननुगृह्णाति' इस व्युत्पत्ति से लोकानुग्रहणी होता है। वह संत शब्द साधुता है परन्तु शास्त्र में प्रयुक्त नहीं है। शम् शब्द से 'कंशंभ्या बभयुरितुतयसः' (अष्टा० ५/२/१३८८) इस पाणिनीय सूत्र द्वारा त प्रत्यय होकर शांत शब्द बनता है जिसका अर्थ है 'शं सुखं ब्रह्मानन्दात्मकं विद्यते यस्य।' इस व्युत्पत्ति से ब्रह्मानन्द सम्पन्न व्यक्ति। इसीका अपभ्रंश-'संत' शब्द है। २)—'षणु दाने' १४६८ धातु से 'क्तिच्क्तौच संज्ञायाम (३/३/१७४) इस पाणिनीय सूत्र के अनुसार क्तिच् प्रत्यय होकर 'सन्ति' शब्द बना, जिसका अर्थ 'सनोति प्रार्थितं फलं प्रयच्छति' इस व्युत्पत्ति से फलदाता है। उस फल शब्द से तत्र साधु अर्थ में यत् प्रत्यय होकर सन्त्य शब्द बनता है। फलदाताओं में श्रेष्ठ उसका अर्थ है। इस शब्द का ऋग्वेद में बहुत स्थलों पर प्रयोग हुआ है। श्री परशुराम चतुर्वेदी के मतानुसार 'संत' शब्द हिन्दी भाषा के अन्तर्गत एक वचन में प्रयुक्त होता है, किन्तु यह मूलतः संस्कृत के शब्द 'सन्' का बहुवचन है। 'सत्' शब्द भी (अस=होना) धातु से बने हुए 'सत' का पुल्लिग रूप है जो 'शतृ' प्रत्यय लगाकर प्रस्तुत किया जाता है। और जिसका अर्थ केवल होने वाला वा रहने वाला हो सकता है। यदि 'संत' की व्युत्पत्ति 'सत्' से मान ली जाय तो इसका अर्थ होता है 'नित्य और अव्यय'। वैदिक साहित्य में यह शब्द ब्रह्म के लिए प्रयुक्त हुआ है। छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है

---

१ योग प्रवाह पृ० १५८

"सदेव सोम्येदमग्रे आसीदेकमेवा द्वितीयम्"[१] अर्थात् (सृष्टि के) आरम्भ में केवल एक अद्वितीय 'सत्' ही वर्तमान था। ऋग्वेद के अनुसार 'सुपर्णं अविप्राः कवयो वाचोभिरेकं सन्तं वहुधा कल्पयन्ति।' अर्थात "क्रांतदर्शी ब्राह्मण उस अद्वितीय एवं अद्वैत" 'सत्' का ही वर्णन अनेक प्रकार से किया करते हैं।,[२] 'पांहुड दोहा' में भी संत शब्द का 'सत्' के रूप में अर्थ किया गया है जैसा निम्नलिखित उद्धरण से प्रकट होता है:—

"संतु णिरंजण मोजि सिउ तहि किज्ज उ अणुराउ [३]
तथा णिरंजण तहिं वसइ, णिम्मल हींइ गवेसु।" [४]

गीता में भी 'सत्' शब्द उपर्युक्त अर्थ में प्रयुक्त मिलता है। गीता में इस शब्द का प्रयोग पाँच प्रकार से हुआ है। गीता के अनुसार 'सत्' नाम ब्रह्म का है।[५] तदर्थकर्म अर्थात् अपने योगक्षेम के हेतु कोई भी कर्म न करके वासुदेव के हेतु कर्म करना 'सत्' है।[६] यज्ञ, दान, तप में स्थित को 'सत्' कहते हैं।[७] सद्भाव व साधु-भाव रखकर प्राणीमात्र से सुहृद्भाव रखना, सर्वभूत हितरत रहना और राग द्वेष आदि द्वंद्वों में न पड़ना भी 'सत्' ही है।[८]

---

१ छान्दोग्य उपनिषद द्वितीय खण्ड १

२ ऋग्वेद—१०—११४—५

३ पाहुड दोहा-कारंजा जैन सीरीज, ३८

४ पाहुड दोहा—कारंजा जैन सीरीज, ६४

५ ओं३म् तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः। गीता १७/२३

६ कर्म चैव तदर्थीयम् सदित्येवाभि धीयते। गीता १७/२७

७ यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते। गीता १७/२७।

८ सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ॥ गीता १७/२६।

प्रशस्त कर्म करना वा आत्मोद्धारक मांगलिक कर्म करना भी 'सत्' कहा जाता है।[1] अतएव सिद्ध है कि 'संत' शब्द अपने विभिन्न रूपों में प्रयुक्त होता है। जो चिरन्तन सत्य की अनुभूति कर चुका है और जो दिव्य मधुर ज्योति के दर्शन प्राप्त करके उसी में सायुज्य प्राप्त कर चुका है वही संत है।

जिस व्यक्ति ने ब्रह्म के दुर्लभ दर्शन प्राप्त कर लिये हैं और उस नित्य तत्व के साथ तद्रूप प्राप्त कर लिया है वह निश्चय ही 'सत' वा 'ब्रह्म स्वरूप' है। पलटू साहब के मतानुसार 'राम' और 'संत' भिन्न नहीं है। दोनों में पूर्ण एकात्मकता है।[2] इसी प्रकार संत गरीबदास के मत से "साईं और संत दोनों में कोई भेद नहीं है। यह विषय मीन मेख से परे है।"

साईं सरीखे संत है, या में मीन न मेख।
वरदा अंग अनादि है बाहर भीतर एक॥

संतबानी संग्रह पृ० १६८ (भाग १)

गोस्वामी जी के शब्दों में "जानेसु संत अनन्त समाना।" अर्थात् संत और अनन्त को एक ही मानना चाहिए, पृथक नहीं। कबीर दास जी को भी संत और अनन्त में भेद नहीं उपलब्ध होता। कारण कि मनसा, वाचा और कर्मणा 'संत' तथा 'साहब' एक ही है उनमें भेद के लिए लेशमात्र स्थान नहीं है।

कबीर दरसन साधका, साहिब आवैं याद।
लेखे में सोई घड़ी, बाकी के दिन बाद॥

---

१ प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते॥ गीता १७/२६

२ संत औ राम को एक कै जानियै। दूसरा भेद ना तनिक आनै॥
पलटू साहब की बानी पृ०८ (भाग २)

साध मिले साहिब मिले अंतर रही न रेख ।
मनसा वाचा कर्मना साधू साहिब एक ॥[1]

संतों के लक्षण पर प्रायः सभी विद्वान एकमत हैं। समस्त ग्रन्थों एवं विद्वानों के कथन का सार-तत्व यह है कि संत निस्त्रैगुण्य तथा माया से विरक्त होकर आत्मोद्धारक प्रशस्त कर्म करने में संलग्न रहते हैं। वे निर्द्वन्द्व होकर शत्रु-मित्र, प्रिय-अप्रिय सभी के प्रति सद्भाव रखते हुए, जीवन में समदर्शिता को अपनाते हैं। वे सदैव नित्यसत्वस्थ कार्यों में संलग्न रहते हैं। वे सतत् निर्योग क्षेम होकर ईश्वर का भजन करते हैं। संत आत्मनिष्ठ होकर समस्त शुभाशुभ कर्मों को भगवान के चरण कमलों में अर्पित कर देते है। हर्ष-शोक, ममत्व-परत्व उनका स्पर्श नहीं कर पाता है। संसार में वे "पद्मपत्रमिवांभसः" निवास करते हैं। परहित हेतु वे सतत् प्राणोत्सर्ग करने के लिए उद्यत रहते हैं। संत इच्छाओं एवं कामनाओं के बन्धन में नहीं बँधते हैं। वसुधैव उनका कुटुम्ब है। गौतमस्मृति में संत के जिन लक्षणों या आठोगुणों का उल्लेख हुआ है वे क्रमशः हैं दया, क्षमा, अनसूया, शौच, अनायास, मगंल, अकार्पण्य तथा अस्पृहा। रामचरित मानस में संतों के लक्षणों का अनेक स्थलों पर सविस्तार उल्लेख किया गया है। अरण्य-काण्ड में उल्लेख किया गया है कि संत काम, क्रोध, मदमोह, लोभ, मत्सर, से रहित निष्पाप, निष्काम, निश्चल, अन्तर और वाह्य रूप से शुद्ध होते हैं। वे श्रद्धायुक्त, क्षमाशील, दया और मैत्रीभावना से सम्पन्न होते हैं। दम्भ, मान और मद उनका स्पर्श तक नहीं कर पाता

---

१ सं० बा० सं० भाग १ पृ० २८

है। वे जितेन्द्रिय और निष्काम भक्त होते हैं।[1] इसी प्रकार उत्तर कांड में "कोमल चित्त दीनन्ह पर दाया" "विगत-काम मन नाम परायन," "पर उपकार वचन मन काया", "भूरज तरु सम संत कृपाला", "संत हृदय नवनीत समाना," "पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता," "परहित सहनित विपति विसाला," "संत सहहि दुख पर हित लागी," "परुष वचन कबहू नहिं बोलहि", "विषय अलंपट सील गुनाकर," "सम अभूतरिपु विमद विरागी" आदि लक्षणों का वर्णन बड़े विस्तार के साथ हुआ है। बालकांड, किष्किधा कांड तथा सुन्दर कांड में भी संतों के स्वभाव एवं लक्षणों का सुन्दर वर्णन मिलता है। कबीर दास के मत से संतों के लक्षण हैं निर्वैरी, निष्काम, हरि भक्ति तत्पर और विषय विरक्त होना।[2] संत घन के समान परमार्थी हैं जो अपनी स्थिति विनष्ट करके दूसरों को शैतल्य प्रदान करते हैं तथा सुख-दुख में एक ही

---

१ षट विकार जित अनघ अकामा। अचल अकिंचन शुचि सुखधामा॥
अमित बोध अनीह मित भोगी। सत्य सार कवि कोविद जोगी॥
सावधान मानद मदहीना। धीर धरमगति परम प्रवीना॥
गुनागार संसार दुख रहित विगत संदेह।
तजि मम चरन सरोज प्रिय तिन्ह कंह देंह न गेह॥
निज गुन कहत सुनत सकुचाहीं। पर गुन सुनत अधिक हरषाहीं॥
सम सीतल नहि त्यागहिं नीती। सरल सुभाव सबहिं सन प्रीती॥
जप तप ब्रत दम संजम नेमा। गुरू गोविन्द विप्र पद प्रेमा॥
सरधा छमा मयत्री दाया। मुदिता मम पदप्रीति अमाया॥
विरत विवेक विनय विज्ञाना। बोध जथारथ वेद पुराना॥
दम मान मद करहिं न काऊ। भूलि न देहि कुमारग पांऊं॥

२ निरबैरी निष्कामता साईं सेती नेह।
विषियां सूँन्यारा रहै साधन का मत एह॥

स० बा० संग्रह भाग १ पृ० २७

समान धैर्यवान और निष्काम रहते हैं।[1] कबीर की बानियों में संतों के अनेक लक्षणों का उल्लेख हुआ है जो उपर्युक्त लक्षणों से पूर्ण साम्य रखते हैं। दरिया साहब (मारडाल वाले) के शब्दों में संत का लक्षण पठनीय है:—

दरिया लच्छन साध का, क्या गिरही क्या भेष ।
निहकपटी निरसंक रहि, बाहर भीतर एक ।।

संत बानी संग्रह भाग १ (पृ० १२८)

दयाबाई के मत से संत वही है जो षट विकारों से रहित है और काम, क्रोध, मद, लोभ जिसका स्पर्श नहीं कर पाते। ऐसा व्यक्ति ब्रह्म-भाव रस में सर्वदा लीन रहता है। दान और दीनता से सम्पन्न रहता है तथा दूसरों के हृदय को शीतलता प्रदान करता है :—

काम क्रोध मद लोभ नाहिं, षट विकार करि हीन ।
पंथ कुपंथ न जानहीं, ब्रह्म भाव रस लीन ।।
दया दान अरु दीनता, दीना नाथ दयाल ।
हिरदै सीतल दृष्टि सम, निरखत करैं निहाल ।।

स० बा० संग्रह भाग १—पृ० १७७

---

१ साध बड़े परमारथी घन ज्यों बरसै आय ।
तपन बुझावें और को, अपनी पारस लाय ।।
सुख दुख एक समान है, हरष सोक नहि व्याप ।
उपकारी निःकामता उपजै छोह न ताप ।।

सं० बा० सं० पृ० २७

इसी प्रकार संत तुलसी साहब[१] पलटू साहब,[२] गरीब दास,[३] दयाबाई,[४] सहजोबाई,[५] दरिया साहब, मारवाड वाले,[६] तथा दादू[७] आदि ने संत के लक्षणों का उल्लेख सविस्तार किया है। सब एक मत से यह स्वीकार करते हैं कि संत विवेकी, दया, क्षमा, त्यागशील, विश्वबन्धुत्व में विश्वास रखने वाला, समस्त विकारों से परे है। उसका व्यक्तित्व समाज के लिए एक वरदान है। वह जहाँ रहता है अपने चारों ओर ज्ञान के आलोक से सबको आलोकित करता रहता है। आध्यात्मिकता का वह व्यवहार-सिद्ध रूप है। वह आध्यात्म चेता तथा द्रष्टा होता है। वह अपनी आभ्यन्तरिक अनुभूति के कारण संसार के सामान्य स्तर से उच्च उठ जाते हैं। संत जन असंग और निर्लेप रहते हैं।

संसार में संत विरले हैं। बड़े भाग्य से उनके दर्शन हो पाते हैं। संत समूह और गोल बना कर विचरण करनेवाले प्राणी नहीं होते हैं। वे एकांत में साधना करते हुए जीवन यापन करते हैं। गरीबदास जी के शब्दों में :—

---

१ स० बा० स० भाग १ पृ० २२६

२ स० बा० स० भाग १ पृ० २१८

३ स० बा० स० भाग १ पृ० १६८

४ स० बा० स० भाग १ पृ० १७७

५ स० बा० स० भाग १ पृ० १५८

६ स० बा० स० भाग १ पृ० १२८

७ स० बा० स० भाग १ पृ० ८६

पण्डित कोटि अनन्त हैं, ज्ञानी कोटि अनन्त ।
स्रोता कोटि अनन्त हैं, विरले साधू संत ॥[1]

संत हंसों के समान है। पक्षियों में यथा हंस श्रेष्ठ होता है ठीक उसी प्रकार मनुष्यों में संत श्रेष्ठ हैं :—

संत सरोवर हंस है, भच्छन करैं विचार ।
पुहुप वासना ज्यूँ रहैं, राई रंच न भार ॥[2]

संत कवि कबीर दास के मतानुसार सिंह, हंस तथा रत्न समूह में नहीं उपलब्ध होते हैं न इनकी जमात ही होती है। ये एकाकी विचरण करते हैं :—

सिंहों के लेहंडे नहीं, हंसों की नाहिं पाँत ।
लालों की नहिं बोरिया, साध न चलै जमात ॥[3]

संतों की गति संसार से नितांत प्रतिकूल है। संसार जिन्हें सुख मानता है उन्हें वे अभिशाप मानते हैं। संसार जिस मोह बन्धन में सहर्ष बँध जाता है उसका वे अपनी इच्छा से परित्याग कर देते हैं। संसार मृत्यु को देख कर सिहर उठता है इसके प्रतिकूल संत-जन उसका आलिंगन करने के लिए उद्यत रहते हैं। संसार प्रवृत्ति में विश्वास करता है और वे निवृत्ति के मार्ग से साधना के क्षेत्र में अग्रसर हो कर प्रवृत्ति को निरर्थक सिद्ध करते हुए सत्य की अनुभूति करते हैं। साधारण संसारी मृत्यु के अनन्तर मुक्ति का स्वप्न देखता है पर संत मृत्यु के अनन्तर प्राप्त होने वाली मुक्ति पर विश्वास नहीं करता है

---

१ स० बा० स० भग १ पृ० १६६

२ ,, ,, ,,

३ स० बा० स० भाग १, पृ० २८

क्योंकि वह जीवन मुक्ति में आस्था रखता है।[1] वृहदारण्यक के मत से सन्त जीवन में ही मुक्ति प्राप्त करके ब्रह्मोपभोग करता है।[2] सिद्ध थोड़ाचोली के मत से वही संत योगीन्द्र है जो साधना मार्ग में तत्पर हो और सर्जन की लहर को अन्त-मुखी करके आत्मनिमग्न हो जाता हो :—

रावल ते जे चालै राह । उलटी लहरि समावै माँह ।[3]

इसी प्रकार रज्जब साहब ने कहा है कि

उलटा चले सुऔलिया, सूधी गति संसार ।

इसीलिए संतों की रहनी और करनी संसार से नितांत पृथक और भिन्न है। संत सदैव शान्त रहता है। वह सदैव ब्रह्मानन्द में निमग्न रहता है। उल्लास की लहरें उसके हृदय में हिलोरे मारा करती हैं। वे सदा के लिए कर्म बीज को भून सा डालते हैं और साईं के रंग में अनुरंजित रहते हैं। राजा हो या रंक वे किसी से भी तौल-तौल कर बातें नहीं करते हैं। संसार में उनका न किसी से प्रेम है न बैर:—

छोडे सुत नारी तात मात भ्रात गोत नातु,
झूठ न सोहात बात कै विवेक बोलही ।
काम क्रोध बोध भये सील व संतोष लये,
कर्म बीज भूँजि बोये काया में कलोलही ॥

---

१ निकट निरंजन लागो रहे । तब हम जीवन मुक्त भये ।।
भर करि मुकति जहाँ जग जाय । तहाँ न मेरा मन पतियाइ ॥
आगै जनम लहै औतारा । तहाँ न मानै मन हमारा ॥
तन छूटै गति जो पद होइ । निरतक जीव मिलै सब कोइ ॥
जीवते जनम सुफल करि जाना । दादू राम मिले मन माना ॥

२ अत्र ब्रह्म समश्नुते (बृ० ४/४/७)

३ योग प्रवाह डा० पिताम्बर दत्त बड़थ्वाल—पृ० १५६

'धरनि' हिये सुहाते साईं के सुरंग राते,
राव रंकते निसंक तौलि तौलि बोलही ॥
काहू ते न बैरता न काहू ते सनेह नेह,
प्यारे की पियारे ते निरारे पथ डोलही ।

संतों का जीवन कथनी और करनी का सुंदर समन्वय है। वे कोरी बात चीत या डींग मारने में विश्वास नहीं करते हैं। मनुष्य दूसरों को तभी उपदेश दे सकता है जब स्वतः क्रियाशील वा कर्मठ हो। केवल बातों के द्वारा लक्ष्य की पूर्ति असम्भव है। कबीर के शब्दों में कथनी तो खाँड की भाँति मीठी मालूम होती है और करनी विष की गोली के समान। किन्तु यही हलाहल अमृतवत मधुर और जीवनोपयोगी बन जाता है यदि कथनी को त्याग कर मानव करनी में संलग्न हो जाय।[1] कोरी कथनी व्यर्थ है। इसका परित्याग करके करनी में संलग्न होना अभीप्सित है। जल ग्रहण किये बिना प्यास का शांत होना असम्भव है।[2] मुख से नीकली हुई बात और आचरण में एकता होनी चाहिए। ऐसे आचरण से सत्य के दर्शन शीघ्र ही होते हैं।[3] दादू को ऐसे व्यक्तियों से बड़ा भय प्रतीत होता है जो कहते कुछ और ही हैं और करते हैं कुछ और। ऐसे व्यक्तियों पर भला विश्वास किस प्रकार से किया जा सकता है।[4] चरणदास के शब्दों में

---

१ कथनी मीठी खाँड सी, करनी विष की लोय।
कथनी तजि करनी करै, विष से अमरत होय ॥

२ कथनी करनी छाड़ि के करनी से चित लाय।
नरहि नीर प्याये बिना, कबहुँ प्यास न जाय ॥

३ जैसी मुक्ते नीकसै, तैसी चालै चाल।
तेहि सतगुरु नियरे रहै, पल में करै निहाल ॥

४ दादू कथनी और कुछ करनी करै कुछ और।
तिनथें मेरा जिव डरै जिसका ठीक न ठौर ॥

कथनी व करनी में ऐक्य समुपस्थित कर लेने वाला संत स्वतः ब्रह्मवत हो जाता है। कितने ही दम्भी आत्मज्ञान का कोरा निरूपण करके काल कवलित हो गए और आज उनका नाम नशान नहीं शेष है।[१] संत मलूक के शब्द में दीपक, बत्ती एवं तेल के कथन से अंधकार का निवारण नहीं हो सकता है। अंधकार तो तभी विनष्ट होगा जब तीनों को एकत्रित करके प्रकाश किया जायगा।[२]

संत मुक्ति के द्वार हैं। वे मुक्ति और भक्ति का दान खुले हुए हृदय से देते हैं। समस्त तीर्थ कर्म व साधना उन्हीं संतों में एक स्थान पर उपलब्ध होते हैं। संत ही संसार में सर्व समर्थ है तथा स्वतः परब्रह्म है। पलटू साहब के शब्दों में:—

पलटू घर में राम के और न करता होय।
राम समीपी संत है वे जो करें सो होय॥

---

१ करनी बिन कथनी इसी ज्यों ससि बिन रजनी।
बिन साहस ज्यों सूरमा भूषन बिन सजनी॥
बांझ झुलावै पालना बालक नहि माहीं।
बातु बिहोना जानिये जह करनी नाहीं॥
बहु डिम्भ करनी बिना कथि कथि कर मूये।
संतों कथि करनी करी हरि के सम हूये॥

२ बातों तिमिर न भाजई, दीवा बाती तेल।

संत कवि और सद्गुरु

गुरु का स्तवन, वन्दन करना भारतीय संस्कृति और परम्परा का प्रधान अंग रहा है। भारतीय समाज में चिरकाल से गुरु का बड़ा स्थान बड़ा उच्च, महान और समादरित रहा है। वह धर्म और समाज का नियामक रहा है। राजनीतिक समस्याओं का हल वही उपस्थित करता था। रामायणकाल में वशिष्ठ का क्या स्थान था, सभी जानते हैं। संस्कृत साहित्य में इसी कारण गुरु की महिमा का बड़ा गान हुआ है। घेरण्ड संहिता के तृतीयोपदेश में गुरु की महत्ता के विषय में कतिपय श्लोकों का उल्लेख मिलता है जिसका तात्पर्य है कि "केवल वही ज्ञान उपयोगी और शक्ति सम्पन्न है जो गुरु ने अपने ओठों से दिया है, नहीं तो वह ज्ञान निरर्थक, अशक्त और दुःखदायक हो जाता है।[1] इसमें कोई भी सन्देह नहीं है कि गुरु ही माता है पिता है और यहाँ तक कि वही ईश्वर भी है। उसकी सेवा मनसा, वाचा, कर्मणा होनी अपेक्षित है। गुरु कृपा से सभी शुभ वस्तुओं की प्राप्ति हो जाती है। इसी कारण गुरु की सेवा

---

१ भवेद्वीर्यवती विद्या गुरु वक्त्र समुद्भवा।
अन्यथा फल हीना स्याच्छिवोर्याप्यति दुःखदा॥
—घेरंड संहिता तृतीयोपदेश, श्लोक १०

नित्य होनी चाहिए। अन्यथा कोई भी माङ्गलिक कार्य होने की सम्भावना नहीं है।[१] 'बोधसार' में गुरु को बड़े ही स्पष्ट शब्दों में ईश्वर से भी महान व्यक्त किया गया है।[२] गुरु के अनुग्रह से ही तो ईश्वर के दर्शन होते हैं और ईश्वर के अनुग्रह से ही सद्गुरु प्राप्त होते हैं, उस सद्गुरु का दर्शन ही ईश्वर दर्शन में मुख्य कारण माना जाता है।[३] गुरु की कृपा के अभाव में काशी आदि क्षेत्रों में भी मुक्ति नहीं प्राप्त हो सकती है।[४] संस्कृत के कवियों ने गुरु की उपमायें सूर्य, कमल, चन्द्र, स्वर्ण आदि लौकिक एवं नैसर्गिक तत्वों से दी है। यह सब उसकी महत्ता का द्योतक है। हिन्दी साहित्य के आदि काल से नाथ सम्प्रदाय के उदय तक साहित्य के अन्तर्गत गुरु के गुणगान के केवल कतिपय उदाहरण उपलब्ध होते हैं। सिद्ध और जैन कवियों के काव्य के अन्तर्गत गुरु की महिमा का गान हुआ है। उन्होंने गुरु को पथ प्रदर्शक, ज्ञान का सागर आदि विशेषताओं से अलंकृत किया है। सिद्धों के पश्चात् वज्रयान, सहजयान, मंत्रयान आदि बौद्ध धर्म के कई एक विभाग हो गए। मंत्रयान में मन्त्रों की सिद्धि के लिए गुरु की आवश्यकता महत्ता

---

१ गुरु पिता गुरुर्माता गुरुर्देवा न संशयः।
कर्मणा मनसा वाचा तस्मात्सर्वैः प्रसेव्यते ॥१३
गुरु प्रसादतः सर्वं लभ्यते शुभमात्मनः।
तस्मात्सेव्यो गुरुर्नित्यमन्यथा न शुभं भवेत ॥१४ घेरण्ड संहिता

२ तारकस्योपदेशेन गुरुर्भुत्वा विमुक्तिदः।
काश्यामपीश्वरस्तस्मादीश्वरादधिको गुरुः ॥ ४/११

३ गुणेनुग्रहादीश ईश्वरानुग्रहाद् गुरुः।
श्री गुरोर्दर्शनं हेतुः परंत्वीश्वर दर्शन ॥ बोधसार—४/१४

४ विनापि क्षेत्रमाहात्म्यं गुरुमाहात्म्यतः कित।
विमुक्तिर्यम कुत्रापि नकाश्यां गुरुणाविना ॥ बोधसार—४/१४

और उसके पथ प्रदर्शन की अनिवार्यता पर बारम्बार प्रकाश डाला गया है।[1] बौद्ध धर्म के इन यानों के क्षीण हो जाने के पश्चात् नाथ सम्प्रदाय के योगियों का विकास हुआ। इनकी साधना में योग की प्रधानता थी। अलख को इन्होंने योग की आँखों से लखने का प्रयत्न किया। अलख को लखने के लिए, योग मार्ग पर अग्रसर होने के लिए साधक को पथ प्रदर्शक की बड़ी आवश्यकता होती है इसीलिए सद्गुरु की शरण अपेक्षित हुई। अविद्या माया के तामसिक आवरण को हटाने के लिए गुरु का गुरुतम मंत्र आवश्यक ही नहीं अनिवार्य हो गया। तथ्य भी तो यही है कि प्राणायाम, षटकर्म, अष्टांग योग, मुद्रा, श्वास-प्रश्वास का संचालन और नियंत्रण, समाधि, नादानुसंधान आदि का मार्ग इतना दुर्गम है कि बिना 'गुरु' के पथ प्रदर्शन के साधक इतनी साधना कर भी नहीं सकता है। इनकी सिद्धि योगी को मार्गच्युत कर सकती है अतएव इनसे सावधान रहना आवश्यक है "इतना गोरखधंधा—और सच पूछिये तो यह गोरखनाथ का योग ही 'गोरखधंधा' शब्द की उत्पत्ति का कारण है—पोथी पढ़कर नहीं हो सकता, मनन, चिन्तन और निदिध्यासन से भी नहीं हो सकता। इसे तो करके दिखाना पड़ता है। इसीलिए इस जटिल कर्म की पद्धति के लिए सद्गुरु की बड़ी जबरदस्त आवश्यकता होती है। नाथ पंथी योगियों, सहज और बज्रयानियों, तांत्रिकों और परवर्त्ती संतों में इसीलिए सद्गुरु की महिमा इतनी फैल गई है। सद्गुरु के बिना जगत के चाहे और सभी व्यापार हो जावें पर यह जटिल साधना पद्धति नहीं हो सकती।"[2]

---

१ हिन्दी काव्यधारा—श्री राहुल सांकृत्यायन

२ हिन्दी साहित्य की भूमिका—पृ० ६५

कालान्तर में सद्गुरु की शक्ति के प्रति अन्ध विश्वास का प्रचलन हो गया है। यह सामान्य विश्वास का विषय बन गया कि सद्गुरु ही समस्त सिद्धियों का दाता है। उसके स्पर्श मात्र से ब्रह्म ज्ञान प्राप्त हो जाता है। गुरु की कृपाकोर के अभाव में हठयोग तो कठिन साधन है, सरलतम भक्ति भी सम्भव नहीं है। अंधविश्वास यहाँ तक फैला कि यदि सद्गुरु अपनी अंगुली से आज्ञा चक्र का स्पर्श मात्र कर दे तो किसी भी 'टंटे' और साधना की आवश्यकता नहीं है, सिद्धि स्वतः उपलब्ध हो जाती है। एक समय वह आया जब गुरु की कृपा की खोज में ही सब साधक फिरने लगे। उनकी शक्ति गुरु की खोज में अधिक रमी साधना में अत्यन्त कम। इस सम्बन्ध में डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का कथन विचारणीय है "जबकि हठयोग की पद्धति क्रिया-बहुल रही होगी उस समय इस पद्धति का साधक-विरल होना नितांत स्वाभाविक है, पर जब गुरु की कृपा पर सब कुछ निर्भर किया जाने लगा होगा तो स्वभावतः ही अधिकाधिक लोग सद्गुरु की खोज में लगे रहते होंगे। उनमें से सैकड़ों गुरु के निकट सत्य होने पर आशा से निरंतर उम्मीदवारी करने में रहते होंगे। यह बात तो निश्चय ही उन दिनों भी असंभव ही रही होगी कि हजारों की संख्या में लोग सिद्ध योगी हो जायँ। पर साधारण जनता को सद्गुरु की कृपा के नाम पर आंतकित करने वाले और उन पर रौब जमाने वाले छोटे मोटे योगियों की एक विराट वाहिनी जरूर तैयार हो गई होगी। ऐसा सचमुच ही हुआ था। ऐसे अलख जगाने वाले योगियों से सचमुच ही सारा देश भर गया था।"[1]

उपर्युक्त उद्धरणों को पढ़ जाने के पश्चात हमारे समक्ष तीन बातें आती हैं। प्रथम यह कि साधना पथ पर अग्रसर व्यक्ति

---

१ हिन्दी साहित्य की भूमिका—पृ० ६६

के लिये सद्गुरु की अपेक्षा है, दूसरे कि सिद्ध और योगी साधकों में सद्गुरु की महत्ता के विषय में अन्धविश्वास प्रचलित हो गया था तथा तीसरी बात यह है कि ये सद्गुरु अपनी चमत्कारी शक्ति का प्रदर्शन करके जनता को आतंकित कर रहे थे और सद्गुरु शास्त्राडम्बर बनाये हुए शतशः व्यक्ति जनता को धोखा देते फिर रहे थे। इसमें कोई भी सन्देह नहीं है कि हठयोगियों और इन तन्त्रसाधकों ने गुरुवाद और गुरुपरम्परा का जो पवित्र रूप अपने देश में चिरकाल से प्रचलित था उसे विकृत और कलुषित कर दिया। पर गुरुपरम्परा की निर्मल धारा के अवाध प्रवाह में जो अवरोध उपस्थित होकर सडांध आ गई उससे यह धारा समाप्त नहीं हो गई। सन्तों की बानियाँ सद्गुरु के स्तवन, यशोगान से भरी-पूरी हैं। उन्होंने उसकी शरण में जाने के लिये उपदेश दिया है। सद्गुरु की महत्ता का गान उन्होंने बार-बार किया है और फिर भी जैसे वे उससे थकते ही नहीं हैं। उन्होंने उसे 'गोविन्द' से भी बड़ा माना है कबीर के समक्ष एक दिन बड़ी बिकट समस्या आ उठी। बात यह थी कि एक दिन कबीर को रामानन्द और गोविन्द दोनों ही के एक साथ दर्शन हुए। बिचारे कबीर के मन में संकल्प विकल्प की लहरें हिलोरें मारने लगीं। वे चिन्तित हो उठे। किसकी बन्दना की जाय पहले। अंत में हृदय और मस्तिष्क ने रामानन्द के पक्ष में निर्णय दिया। कारण कि रामानन्द की ही कृपा से गोविन्द के वास्तविक स्वरूप के दर्शन उन्हें हुए नहीं तो यह कैसे सम्भव होता। फलतः गोविन्द के चरणों को छोड़ कर कबीर गुरु के चरणों में गिर पड़े।

गुरु और गोविन्द में बड़ा अन्तर है। एक स्वतः पूर्ण, स्वतः प्रकाश, स्वतः अनादि, अनाम, अमध्य और अनन्त है। दूसरा अपूर्ण को पूर्ण बनाने वाला, सर्वात्मा का रहस्य बताने

वाला, ब्रह्म के तत्वों को प्रकाशित करने वाला है। एक रहस्य है तो दूसरा उस रहस्य का उद्घाटक। फिर दोनों में क्या अंतर है? कौन बड़ा है? रहस्य की अपेक्षा उसका भेद खोलने वाला ही महान है, कारण कि वह रहस्य के अन्तर्गत गति रखता है। वह उसके अन्तरतम स्वरूप से परिचित है। यही महान शक्ति कबीर ने रामानन्द में पाई। वे ऐसा गुरु पाकर कृतकृत्य हो गये। मोह का अन्धकार छूट गया। ज्ञान का प्रकाश चतुर्दिक छिटक पड़ा। उस दिन उषाबेला में रामानन्द के पैरों से ठोकर खाकर कबीर उठे, उसी समय मोह और अज्ञान निशा का अवसान हुआ, तम पर ज्ञान के प्रकाश की विजय हुई। कबीर राम और उसके रहस्य से परिचित हो गए। द्वैत का भ्रम अवगत हो गया। पारस के स्पर्श से लोहा भी स्वर्ण बन गया। इसीलिये कबीर ने इस गुरुदेव को महान, ब्रह्म से भी महान और उच्च माना है।[1] कबीर बड़े दूरदर्शी थे। वे जानते थे कि हरि के न प्रसन्न होने पर, दर्शन न होने पर सद्गुरु अन्य मार्ग द्वारा मुक्ति दिला सकते हैं पर गुरु के तटस्थ हो जाने पर किसका सहारा ग्रहण कया जाय, कौन उस संकटपूर्ण स्थिति में सहायक हो सकता है।[2] इसीलिये वे बारंबार एक ही बात दुहराते हैं "गुरु बड़े गोविंद ते मनमें देखु विचार" "हरि सुमिरै सो बार है गुरु सुमिरै सो पार।"[3] सुंदरदास ने गुरु में ही ब्रह्म के

१ गुरु गोविन्द दोऊ खड़े काके लागूँ पाँय।
बलिहारी गुरु आपने जिन गोविंद दयो बताय॥

२ कबीर ते नर अन्ध है गुरु को कहते और।
हरि रूठे गुरु ठौर है, गुरु रूठे नहिं ठौर॥

३ सन्तवानी संग्रह भाग १ पृ० २/१३

दर्शन किये। गुरु के रूप में ब्रह्म का आभास मिला।[१] दूलन दास ने तो ईश्वर की अपेक्षा गुरुमत का भजन करने के लिए ही उपदेश दिया है कारण कि गुरु ही ब्रह्ममय है, वही विष्णु है, वही शंकर है। उस ब्रह्म में तीनों शक्तियाँ विद्यमान हैं।[२] चरनदास ने सुंदरदास और दूलनदास की अपेक्षा गुरु के पद की और उच्च कल्पना की है। उनके अनुसार तीन लोक में कोई भी शक्ति सद्गुरु की समता नहीं कर सकती। उस सद्गुरु की बड़ी महत्ता है। उसका नाम लेने मात्र से पातक विनष्ट हो जाते हैं और ध्यान करने से ध्यानी भी स्वयं हरि के समान हो जाता है।[३] दयाबाई के अनुसार सद्गुरु स्वयं ही ब्रह्म है उसे मनुष्य समझना भूल है।[४] अन्य संतों की भाँति गरीब दास ने भी गुरु को पूर्णब्रह्म, अलेख, रमताराम आदि विशेषणों से अलंकृत किया है।[५] पलटू साहब ने सद्गुरु को "सब देवन

---

१ सुन्दर सतगुरु ब्रह्ममय पर सिष की समदृष्टि।
सूधी ओर न देखई देखै दर्पन दृष्टि॥

२ गुरु ब्रह्मा गुरु विष्णु है, गुरु शंकर गुरु साध।
दूलन गुरु गोविद भलु, गुरुमत अगम अगाध॥

३ गुरु समान तिहुँ लोक मे और न दीखै कोय।
नाम लिये पातक नसै, ध्यान किये हरि होय॥
तथा, सद्गुरु के मारे मुए बहुरि न उपजै आय।
चौरासी बन्धन छुटै हरिपद पहुँचै जाय॥

४ सद्गुरु ब्रह्म स्वरूप है मनुष भाव मत जान।
देह भाव मानै दया लेहैं प्रभू समान॥

५ सद्गुरु पूरन ब्रह्म है, सद्गुरु आप अलेख।
सद्गुरु रमता राम है यामें मीन न मेख॥

को देव" माना है। गुरु ही सर्वश्रेष्ठ देव है इसी कारण वे सभी देवताओं का परित्याग कर उसी की अनन्य भाव से उपासना करने का उपदेश दिया है।[1] चरनदास के अनुसार हरि की सेवा सौ वर्ष की जाय और गुरु की चार पल तो भी चार पल की सेवा बड़ी है।[2]

ब्रह्ममय अथवा ब्रह्म से भी महान, उच्च और अधिक शक्तिवान गुरु की महत्ता भी उसी के पद के समान है। वह पत्थर को पारस, मिट्टी को स्वर्ण बना देता है। उसकी समानता संसार में कर ही कौन सकता है। जो शक्ति साधारण साधक को भी ब्रह्मोपम, ब्रह्म के समान बना देती है निःसन्देह उसकी शक्ति महान है। उसकी महत्ता असाधारण है, उसका गौरव गान करने के योग्य है। सन्तों ने गुरु की महत्ता का बड़े विस्तार से उल्लेख किया। संत तो जैसे गुरु की महत्ता गाते-गाते अघाते ही नहीं, थकते ही नहीं। वे उसे उच्च से उच्च शब्दों से अभिनन्दित करते हैं। फिर भी कुछ न कुछ कहने के लिये रह ही जाता है। कबीर स्वप्न देखते हैं कि यदि समस्त पृथ्वी को साफ करके कागज के समान लिखने योग्य बना दिया जाय, सभी पेड़ों को छाँटकर लेखनी बना दी जाय और सभी सागरों में स्याही घोल दी जाय, इसके बाद "मसि कागज छूयौ नहीं" शपथ लेने वाले कबीर को यदि कहीं लिखने का अवसर प्रदान किया जाता तो भी वे गुरु की महत्ता का, उसके महत्व का उल्लेख करने में समर्थ न होते। कबीर के गरु का कितना महान

---

१ वहि देवा को पूजिये सब देवन कौ देव।
पलटू वा है भक्ति जो सद्गुरु अपना सेव॥

२ हरि सेवा कृत सौ बरस गुरु सेवा पल चार।
तौ भी नहीं बराबरी वेदन कियो विचार॥ चरनदास जी की बानी—पृ० ८

व्यक्तित्व है, कितनी महान आत्मा है कि कोई भी संसार में उसका उल्लेख करने में समर्थ नहीं है। पता नहीं वीणापाणि की क्या दशा होती।[१] इस साखी के पढ़ जाने के बाद पाठकों को गुरु माहात्म्य के विषय में और क्या पढ़ने के लिये रह जाता है? और कबीर को भी यही गुरु स्तवन इति कर देना चाहिये था, पर कबीर को शान्ति नहीं। कारण कि गुरु को प्राप्त करने के लिए तो वे अपना शीश काट कर फेंक देना भी सस्ता सौदा समझते हैं।[२] कष्टसाध्य भक्ति और दुर्लभ मुक्ति का भण्डार साधक पर निछावर कर देने वाला यदि कोई है तो वह है सद्गुरु और इसी कारण दादू उसके पीछे लगे रहने में ही जीवन की सार्थकता आँकते हैं।[३] गुरु के प्रताप से मलूकदास ने माया मोह का निवारण करके इस संसार में बाजी जीत ली।[४] संसार के ताप से संतप्त सुन्दरदास के सभी दैहिक, दैविक, भौतिक तापों को गुरुदेव ने ही "सबद" औषधि देकर नष्ट कर दिया। इस अचूक औषधि ने भी अपना पूरा प्रभाव दिखाया। जब निदान ठीक तो औषधि कैसे प्रभाव न करती। फल वही हुआ जो होना था। सबद औषधि के प्रयोग ने सुन्दरदास को

---

१ धरती सब कागद करूँ, लेखनि सब वन राय।
सात समुन्द्र की मसि करूँ, गुरु गुन लिखा न जाय॥

२ यह तन विष की बेल री गुरु अमृत की खान।
सीस दिये जो गुरु मिलै, तौ भी सस्ता जान॥

३ सद्गुरु मिलै तो पाइये भक्ति मुक्ति भंडार।
दादू सहजै देखिये साहिब का दीदार॥

४ जीती बाजी गुरु प्रताप ते माया मोह निवार।
कह मलूक गुरु कृपा ते उतरा भव जल पार॥

शीतलता प्रदान की और वे कृतकृत्य हो गए।[१] इस विशाल संसार में सुन्दरदास को सद्गुरु के समान उदार कोई और व्यक्ति मिला ही नहीं। क्योंकि उसने बड़ी ही उदारतापूर्वक अपने ज्ञानकोष को खोल दिया और शिष्य उससे लाभान्वित हुए।[२] सुन्दरदास की चिरवियोगी आत्मा को प्रियतम से मिलाने का उपकार भी सद्गुरु को ही है।[३] धरनीदास ने सद्गुरु का ध्यान जिस दिन से किया उस दिन उसके प्रभाव से कुदिन सुदिन बन गया, अशुभ शुभ बन गया और संसार की अत्यंत दोषयुक्त वस्तुएँ भी मांगलिक और कल्याणकारी बन गईं।[४] मारवाड़ वाले दरिया साहब ने आजीवन अपने को आश्रयहीन और अनाथ पाया। पर जिस दिन गुरुदेव ने उनके मस्तक पर हाथ रखा "सबद" सुनाया उसी दिन से वे सनाथ हो गए और अपने को धन्य प्रतीत करने लगे।[५] इतना ही नहीं गुरु ने उनकी संतप्त आत्मा को शैतल्य प्रदान किया, सुप्तावस्था से जाग्रत किया।[६] चरनदास जी ने भी कबीर की भाँति ही सद्गुरु का स्थान अद्वितीय मान सार क्या तीनों लोक में

---

१ सुन्दर सतगुरु वारिये सोई बन्दन जोग।
औषधि सबद पियाइ करि दूरि कियो सब रोग॥

२ सन्तबानी संग्रह भाग १ पृ० १०६/५

३ सन्तबानी संग्रह भाग १ पृ० १०७/६

४ धरनी सब दिन सुदिन है कबहुँ कुदिन है नाहिं।
लाभ चहूं दिसि चौगुना जो गुरु सुमिरन हिय माँहि॥

५ दरिया सतगुरु भेंटिया जा दिन जन्म सनाथ।
स्त्रवना सबद सुनाइ के मस्तक दीन्हा हाथ॥

६ सन्तबानी संग्रह भाग १ पृ० ११६/७

उसकी समता करने वाला उन्हें कोई न दीख पड़ा ।[१] सहजोबाई ने स्वयं ही सद्गुरु की महाशक्ति का अनुभव किया। उन्होंने देखा कि सद्गुरु के स्पर्श मात्र से उनकी काग के समान मलीन आत्मा निर्मल हंसवत हो गई।[२] इतना ही नहीं उन्होंने सहजो का प्रवेश उस प्रदेश में करा दिया जहाँ चींटी जैसे छोटे जीव को स्थान नहीं है, सरसों जैसी सूक्ष्म वस्तु के लिए ठहराव नहीं है। फिर भी सहजो वहाँ पहुँच गई तो वह गुरुदेव की ही असीम कृपा का फल है।[३] संसार के माया से आवृत अन्धे कुएँ में पड़ी हुई दयाबाई का गुरुदेव ने ही उद्धार किया था। उनके ज्ञान ने भवसागर में डूबती हुई दयाबाई को बचाया और पार लगाया ।[४] इसी प्रकार धर्मनी मेदास[५], भीखा[६], बुल्ला[७], केशवदास, तुलसी साहब[८], गुलाब साहब[९], रैदास[१०]

---

१ गुरु समान तिहुँ लोक मे और न दीखै कोय ।
नाम लिये पातक नसै ध्यान किये हरि होय ।।

२ सहजो सतगुरु के मिले भये और सूं और ।
काग पलट गति हंस है पाई भूला ठौर ।

३ चिउंटी जहाँ न चढ़ि सकै, सरसों ना ठहराय ।
सहजो कूं वा देश मे, सतगुरु दई बसाय ।

४ अंध कूप जग मे पड़ी, दया करम वस आय ।
बूडत लई निकासि करि, गुरु गुन ज्ञान गहाय ।।

५ संत बा० स० भाग २ पृ० ३५

६ संत बा० स० भाग २ पृ० २०७

७ बुल्ला साहिब की बानी

८ सं० बा० सं० भाग २ पृ० २३६

९ संत बा० सं० भाग २ पृ० २०३/४

१० संत बा० सं० भाग २

आदि संतों ने बड़े विस्तार के साथ अपने-अपने गुरुदेव की महत्ता और यश का गान किया है। संतों के उपर्युक्त कथन इस बात के द्योतक है कि सभी संतों ने सद्गुरु की महान शक्ति की प्रशंसा की है। साथ ही सभी को उसकी दिव्य शक्ति का अनुभव है। सद्गुरु गोविन्द से भी महान है। इस बात को केवल दो ही सन्तों (ऊपर उल्लेख हुआ है) ने उल्लेख किया है। अन्य सन्तों ने उसे ईश्वर के समान माना है। परन्तु यह बात तो निश्चय ही है कि सभी सन्तों ने उसकी कृपा की अनिवार्यता प्रदर्शित की है। उसकी कृपा के अभाव में मुक्ति असंभव है। इस विषय पर सभी का मत साम्य है।

हृदय के जिन सरलतम शब्दों में सन्तों ने "गुरु" का महत्व चित्रित किया है, उसकी झलक विगत पृष्ठों से प्राप्त हो जायगी। संतों ने सद्गुरु का बड़ा उच्च स्थान निर्धारित किया है। उन्होंने उसे "गोविन्द" से भी महान दिखाया और इसके लिए उनके पास तर्क भी है। इन संतों ने सद्गुरु के सम्मान में बड़े सुन्दर-सुन्दर शब्दों का प्रयोग किया है, उन्होंने अनेक विशेषणों से उसे अलंकृत किया है। कबीर ने सद्गुरु को कुम्हार[1], अमृत की खान[2] और सूरमा[3] की उपाधि से अलंकृत किया है। सुन्दरदास ने स्वर्णकार[4], दरिया साहब (विहार वाले)

---

१ गुरु कुम्हार सिख कुम्भ है, गढ़ि-गढ़ि काढै खोट।
अन्तर हाथ सहार दै, बाहर बाहैं चोट॥

२ यह तन विष का बेलि रा, गुरु अमृत की खान।
सीस दिये जो गुरु मिलै, तौ भी सस्ता जान॥

३ सतगुरु साचा सूरमा, नख सिख मारा पूर।
बाहर घाव न दीसई, भीतर चकनाचूर।

४ सुन्दर काहै सोध करि, सतगुरु सोना होई।
सिष सुवरन निर्मल करै, टांका रहै न कोई॥

ने जहाज[1] तथा खेवट[2] मारवाड़वाले दरिया ने तैराक[3], दूलनदास ने चन्द्रमा[4], चरनदास ने सूरमा[5], शिकारी[6] तथा नावक[7], सहजोबाई ने रंगरेज[8] गरीबदास ने खेवट[9] तथा पारस[10] आदि शब्दों का प्रयोग सद्गुरु के लिए किया है। अन्य संतों में कुछ ने उसे हंस किसी ने परमात्मा किसी ने संत पुरुष आदि सम्मान सूचक शब्दों का प्रयोग किया है। सद्गुरु के लिए प्रयुक्त इन सम्मान सूचक शब्दों में कुछ शब्द उसके स्वभाव के द्योतक हैं, कुछ उसके महत्व के सूचक हैं, कुछ उसके सामर्थ्य को प्रकट करनेवाले हैं। कुछ शब्दों में उसकी उपयोगिता प्रकट होती है। सभी शब्दों में सूरमा, जहाज तथा खेवट शब्दों का अधिक प्रयोग हुआ है। सम्भवतः ये शब्द उसकी उद्धारक शक्ति के परिचायक हैं।

---

१ दरिया भव जल अगम है, सतगुरु करहु जहाज।
तेहि पर हंस चढ़ाइ कै, जाय करहु सुख राज॥

२ सुकृत पिरेमहि हितु करहु, सत बोहित पतवार।
खेवट सतगुरु ज्ञान है, उतरि जाव तौ पार॥

३ दरिया गुरु तैरू मिला, कर दिया पैले पार।

४ सं० बा० सं० भाग १—पृ० १३४/४

५ सं० बा० सं० भाग १—पृ० १४३/१०

६ सं० बा० सं० भाग १—पृ० १४३/१२

७ सं० बा० सं० भाग १—पृ० १४३/१४

८ सं० बा० सं० भाग १—पृ० १५५/१०

९ सं० बा० सं० भाग १—पृ० १८३/१६

१० सं० बा० सं० भाग १—पृ० १८३/२८

सद्गुरु की कृपा का फल बड़ा कल्याणकारी होता है। इसके विषय में वही अधिकारी के रूप में लिख सकता है जिसने उसका अनुभव किया हो वा उससे लाभान्वित हुआ हो। कम से कम इसमें कोई सन्देह नहीं है कि कबीर को सद्गुरु की कृपा प्राप्त थी और वे उसकी कृपा से अपने को गौरवान्वित अनुभव करते थे। उन्हें तो गुरु की कृपा से ज्ञान मिला, समागम मिला, प्रेम मिला, सुख मिला, दया मिली, मुक्ति मिली और सबसे महत्वपूर्ण प्राप्ति थी विश्वास की। उसकी कृपा प्राप्त होते ही कबीर के तन-मन का ताप विनष्ट हो गया और वे माया मोह के बन्धन से दूर हो गये।[१] चरनदास भी उसकी कृपा से जगत की व्याधि से छुटकारा पा गये, राग द्वेष की भावनायें मिट गईं।[२] कौड़ी मोल के योग्य उनका शरीर सद्गुरु की कृपा से ही अमोल हो गया और[३] क्षणमात्र में उसके प्रभाव से जीव ब्रह्म बन गया।[४] जिस चमत्कारी प्रभाव का चरनदास ने अनुभव किया था वही तुलसी साहब की अनुभूति भी बनी। तुलसी साहब ने अनुभव किया कि गुरुदेव ने तो वास्तव में भाग्य की रेख ही बदल दी। उनके भाग्य को ही बदल दिया। सद्गुरु की कृपा के फल के विषय में किस सन्त ने नहीं लिखा? सभी ने अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार अपने विचारों को प्रकट किया है। परन्तु

---

१ ज्ञान समागम प्रेम सुख दया भक्ति विश्वास।
गुरु से बाते पाइये सतगुरु चरन निवास॥
गुरु मिला तब जानिये मिटा मोह तन ताप।
हर्ष सोक व्यापै नहीं तब गुरु आवै आप।

२ संत बानी संग्रह भाग १—पृ० १४२/२
३ संत बानी संग्रह भाग १—पृ० १४२/५
४ संत बानी संग्रह भाग १—पृ० १४२/८

सबका एक साथ उल्लेख करना स्वतः एक लेख का विषय बन जाता है। इसी कारण संक्षेप में यहाँ केवल कुछ ही सन्तों का उल्लेख सम्भव हो सका है।

ऊपर कहा जा चुका है नाथ सम्प्रदाय के अवसान काल तक हठयोगियों और तन्त्रवादियों ने देश में गुरुवाद का बहुत ही विकृत रूप प्रचारित किया। समस्त देश अलख लखाने वाले योगी गुरुओं से भर गया था। उनकी एक विराट वाहिनी अवश्य तैयार हो गई होगी। जो समय-समय पर जनता को आतंकित करती रहती होगी। इसीलिए सन्त कवियों ने जहाँ एक ओर सद्गुरु की शरण में जाने का उपदेश दिया है वहाँ उसके साथ ही उसकी पहिचान पर जोर दिया है। ढोंगी गुरुओं की ओर से जनता को सतर्क रहने का बारम्बार उपदेश भी दिया है। उन्होंने एक सद्गुरु के लक्षणों का उल्लेख करके जनता को भ्रम से बचने के लिए बार-बार उपदेश दिया है। सुन्दरदास ने ऐसे व्यक्ति को गुरु बनाने का उपदेश दिया है जो एक दृष्टि-वान हो, गम्भीर हो, जो सांसारिकों से भिन्न गति रखता हो और जिसमें इतनी शक्ति हो, इतनी साधना हो कि पल मात्र में साधक को निहाल कर दे।[1] गरीबदास ने तो स्पष्ट शब्दों में गुरु के लक्षणों का उल्लेख कर दिया कि:—

सतगुरु के लच्छन कहूँ, अचल विहंगम चाल।
हम अमरापुर ले गया, ज्ञान सबद के नाल॥[2]

झूठे गुरु के विषय में कबीर ने बहुत सी साखियों की रचना की है। इन साखियों की रचना बहुत सम्भव है

---

१ समदृष्टी सीतल सदा अद्भुत जाकि चाल।
ऐसी सतगुरु कीजिये पल में करै निहाल॥

२ संत बानी संग्रह भाग १—पृ० १८२/१३

जनता को सतर्क करने के लिए ही की गई हो। इन साखियों से झूठे गुरु की रूपरेखा निर्धारित कर लेना बड़ा ही सरल हो जाता है। कबीर की कुछ साखियों को यहाँ उद्धृत कर लेना असंगत नहीं प्रतीत होता।

(क) कनफूका गुरु हद्द का, बेहद का गुरु और।
बेहद का गुरु जब मिलै, (तब) लहै ठिकाना और॥

(ख) पूरा सतगुरु ना मिला, सुनी अधूरी सीख।
स्वांग जती का पहिरि के, घर-घर मांगै भीख॥

(ग) गुरू गुरू में भेद है, गुरू गुरू में भाव।
सोइ गुरु नित बंदिये (जो) सबद बतावै दाव॥

(घ) झूठे गुरु के पच्छ को तजत न कीजै बार।
द्वार न पावै सबद का भटकै बारम्बार॥

इसी प्रकार झूठे गुरु के विषय में सहजोबाई का कथन पठनीय है:—

सहजो गुरु बहुतक फिरैं, ज्ञान ध्यान सुधि नाहिं।
तार सकैं नहिं एक कूँ, गहैं बहुत की बाँह॥

झूठे ही काव्य और साखियों की रचना करके जनता पर गुरुडम का प्रभाव जमाने वाले सतगुरुओं के विषय में गरीब दास कहते हैं:—

अन्धे गूँगे गुरु घने, लँगड़े लोभी लाख।
साहिब से परचै नहीं, काव्य बनावैं साख॥[1]

---

१ गरीबदास की बानी—पृ० १६/५५

चरनदास जी कनफूँका और सतगुरु में अन्तर दिखाते हुए कहते हैं कि वह द्रव्य कमाने के लिए घर-घर कण्ठी बाँटते फिरते है।[1] वे कहते हैं "कछू लाय मोहिं देहु" और इसके विपरीत सतगुरु कहते हैं कि "नाम धनी का लेहु"। दोनों के सिद्धान्तों में आधारभूत अन्तर है। दोनों ही दो विपरीत दिशा के पथिक हैं। सुन्दरदास ने भी 'सुन्दर-विलास' ग्रन्थ में इन कनफूका गुरुओं के विषय में कई एक सवैयों की रचना की है। इन छन्दों में से एक यहाँ उद्धृत किया जाता है:—

कोउ विभूति जटा नख धारि कहैं यह भेष हमारो हि आदू ।
कोउ कान फराइ फिरै पुनि कोउक सींग बजावत नादू ॥
कोउक केश लुचाइ करै व्रत कोउक जंगम कै शिर बादू ।
ये सब भूलि परै जित ही तित सुन्दर कै उर है गुरु दादू ॥

सुन्दरदास के अनुसार "सद्य शिष्य पलटै सुसत्य गुरु जानिये":—

---

१ कनफूँका गुरु जगत का राम मिलावन और ।
सो सतगुरु को जानिये मुक्ति दिखावन ठौर ॥

चरनदास की बानी—पृ० १७

गलियारे गुरु फिरत हैं घर-घर कण्ठी देत ।
और काज उनको नहीं द्रव्य कमावन हेत ॥ —तथा—
गुरु मिलते ऐसे कहैं कछू लाय मोहिं देहु ।
सतगुरु मिलि ऐसे कहैं नाम धनी का लेहु ॥

चरनदास की बानी—पृ० ११

लोह को पारस पषान हूँ पलटि लेत,
कञ्चन छुवत होइ जग मैं प्रमांनिये ।
द्रुम कौं ज्यौं चन्दन हू पलटि लगाइ बास,
आपुके समान ताके शीतलता आनिये ॥
कीट कौं ज्यौं भृंग हूँ पलटि कै करत भृंग,
सोउ उड़ि जाय ताकौं अचरज मानिये ।
सुन्दर कहत यह सगरै प्रसिद्ध बात,
"सद्य शिष्य पलटै सुसत्य गुरु जानिये ॥"

सन्तों की नाम-प्रियता

नामैं निःचल निरभला, अनँत लोक में गाज ।
निरगुन सरगुन क्या कहै, प्रगटा सन्तों काज ॥

—गरीबदास

सन्त-साहित्य में नाम' का बड़ा गुणगान हुआ है। सन्त साहित्य देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि 'सन्तगुरु' बन्दना की भाँति 'नाम' गुणगान की भी अपनी एक परम्परा चिर काल से चली आई है। निर्गुण धारा के सब से उज्ज्वल रत्न कबीर से लेकर छोटे से छोटे सन्त ने 'नाम' के प्रति अपने विचार और श्रद्धा प्रकट की है। कबीर,[1] दरिया द्वे,[2] दूलन दास,[3] सहजोबाई,[4] गरीबदास,[5] पलटू साहब,[6] सुन्दरदास आदि ने भाँति-भाँति से अपनी 'नाम' प्रियता का परिचय दिया है। इस प्रवृत्ति का परिचय हमें सगुणवादी कवियों में भी उपलब्ध होता है। सगुण धारा के सब से बड़े माँझी, महाकवि

१ सन्तबानी संग्रह भाग १, पृ० ४-६
२ सन्तबानी संग्रह भाग १, ,, १२१-१२२
३ सन्तबानी संग्रह भाग १, ,, १३४-१३६
४ सन्तबानी संग्रह भाग १, ,, १५५-१५६
५ सन्तबानी संग्रह भाग १, ,, १८४-१८६
६ सन्तबानी संग्रह भाग १, ,, २१४

गोस्वामी तुलसीदास ने अपने मानस में 'नाम' की बड़ी प्रशंसा और माहात्म का उल्लेख किया है।[१] गोस्वामी जी के अनुसार 'नाम' ही संसार की समस्त कामनाओं और मुक्ति को प्रदान करने वाला है।[२] 'नाम' निर्गुण और सगुण ब्रह्म से भी बड़ा है।[३] राम ने केवल एक 'तापस तिय' अहिल्या का उद्धार किया परन्तु 'नाम' ने "कोटि खल कुमति सुधारी।" 'नाम' ही के प्रसाद तथा प्रताप से अमाङ्गलिक वस्तुओं से युक्त शङ्कर जी मांगलिक तथा अविनाशी बन गए। सुक, सनकादि, नारद, प्रहलाद, ध्रुव, पवनसुत, अजामिल आदि 'नाम' के प्रताप से ही स्मरणीय बन गए हैं।[४] 'नाम' की प्रशंसा और महत्ता का गुणगान करते-करते जब गोस्वामी जी थक जाते हैं तो यहाँ तक कह देते हैं कि "कहौं-कहाँ लगि नाम बड़ाई। रामु न सकहिं नाम गुन गाई।"[५] सुन्दरदास ने नाम जप को समस्त कर्मकांड व धर्मों में श्रेष्ठ माना है :—

नाम बराबर तोलिया तुलै न कोई धर्म।

भक्त चरनदास ने भी गोस्वामी जी सुन्दरदास की भाँति 'नाम' को समस्त धर्मों से श्रेष्ठ माना है।[६] और इसीलिए

---

१ रामचरित मानस गुटका, गीताप्रेस दशम संस्करण पृ० १५-१६

२ रामचरित मानस गुटका, गीताप्रेस दशम संस्करण पृ० १७-१६

३ अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा॥
मोरे मत बड़ नाम दुहू ते। मानस पृष्ठ १७

४ मानस १६/२६

५ मानस १६/२६

६ सकल सिरोमनि नाम है, सब धरमन के माँहि,
अनन्य भक्ति वह जानिये, सुमिरन भूलै नाहि।

सहजोबाई ने हर प्रकार के कष्टों को सहन करते हुए भी 'नाम' जप का उपदेश दिया है।[1]

संतों का ब्रह्म नाम, रूप, जाति और वर्ण से रहित है, परे है। वह अकथ, अलेख तथा अगोचर है। उसकी शक्ति एवं स्वरूप मानव के अनुमान तथा विचार से भी उच्च तथा विस्तृत है। संसार की अपूर्ण भाषा तथा अल्प बुद्धि मानव उसका पूर्ण वर्णन नहीं कर सकता है। इस प्रकार की धारणा रखते हुए भी संतों ने ब्रह्म को प्राकृत गुणधारी बताया है। संतों ने परब्रह्म को अकथ, अनीह, अवस्त, अज्ञ, गुरु, गोविन्द, ततसार, प्रभु, ब्रह्म, श्रीपति, अन्तर्यामी, अविनाशी, मंगलरूप, तत्वसार, कृष्ण, भगवान, नाथ, करुणामय, निराकार, जगन्नाथ, नारायण, ठाकुर, दीनदयाल, साहब, राजाराम, हरि, निरंजन, धनी, प्राणनाथ, बाजीगर, खुदा, करीम, पैगम्बर, रहीम, हजरत, रहमान, काजी, सिरजनहार, साईं, अगोचर, दीनबन्धु, पुरुषोत्तम, भक्तवत्सल, गुनसागर, कलानिधान आदि नामों से सम्बोधित किया है। ये नाम बार-बार उनकी रचनाओं में उपलब्ध होते हैं। पर ब्रह्म के इन उपर्युक्त विभिन्न नामों में से कवियों ने निरंजन, राम, अविगत, अगम, अगोचर आदि का अधिक प्रयोग किया है। इनमें से अविगत, नाम अगम, अगोचर, अन्तर्यामी, अलेख आदि कुछ नाम परब्रह्म के प्रमुख लक्षणों के द्योतक हैं। दीनानाथ, दीनदयाल, धनी, गुनसागर आदि ब्रह्म के गुणों के प्रकाशक हैं। सन्तों ने परब्रह्म को रहमान, रहीम, करीम, खुदा, हजरत, कादिर तथा काजी आदि नामों से भी सम्बोधित किया है। इनका प्रयोग हिन्दू

---

१ मेह कहै सहजो कहै, सहै सीत औ घाम।
पर्वत बैठो तप करै, तौभी ऋषिको नाम। स० बा० स० १/१५५/४

और मुसलमानों के हृदयों में परब्रह्म का एकत्व स्थापित करने के लिये किया है। सन्तों ने अपने सम्प्रदायों के अन्तर्गत ब्रह्म के नामों को ही परमात्मा का प्रतीक माना है। सन्तों द्वारा चलाये गये प्रायः सभी सम्प्रदायों में 'नाम' का बड़ा समादर है। भवसागर को पार करने के लिए राम के नाम का वही महत्व है, जो सागर पार करने के लिए पोत या जलयान का होता है।

कबीरदास के अनुसार 'नाम' ही आदि और मूल वस्तु है। समस्त वेद और मन्त्र उसी से उत्पन्न हुए हैं। बिना 'नाम' का ध्यान किए हुए सांसारिक भव जल में डूबकर नष्ट हो गए।[१] 'नाम' को न जानते हुए 'राम' 'राम' का जप व्यर्थ है। नाम के अभ्यास से ही सतगुरु ईश्वर के दर्शन होते हैं।[२] 'नाम' अग्नि के सदृश समस्त जीवों में व्याप्त है।[३] गोस्वामी तुलसीदास ने 'नाम' को जिह्वा पर स्थित मणिमय दीपक माना है जिसके प्रकाश भीतर और बाहर (हृदय और शरीर) दोनों ही आलोकित हैं।[४] सुन्दरदास के मतानुसार 'राम नाम' वह मधुर वस्तु है जिसको पान करते ही[५] शरीरस्थ

---

१ आदि नाम सब मूल है, और मंत्र सब डार।
कहैं कबीर निज नाम बिनु, बूड़ि मुआ संसार ॥ स० बा० स० ४/२

२ राम नाम सब कोई कहै, नाम न चीन्हें कोय।
नाम चीन्ह सतगुरु मिलै, नाम कहावै सोय ॥ स० बा० ४/४

३ पावक रूपी नाम है, सब घट रहा समाय। अ० बा० स० ६/२०

४ राम नाम मनि दीप धरु, जीह देहरी द्वार।
तुलसी भीतर बाहिरो, जो चाहिस उजियार। स० बा० १, १७/१

५ राम नाम मिसरी पीये दूरि जाहिं सब रोग—सं० बा० स० १, १०८/४

समस्त विकार दूर हो जाते हैं। जिसके हृदय में 'नाम' वर्तमान है उसके प्रति सभी लोग सम्मान प्रकट करते हैं। वह सभी के लिए सम्मान्य एवं आदरणीय होता है।[१] नाम के सदृश्य संसार में अन्य कोई पदार्थ वा तत्व नहीं है। ब्रह्म का तादाम्य प्राप्त करने के हेतु ही समस्त दर्शन शास्त्र से 'नाम' को खोज निकाला है। जिस प्रकार दूध, दही आदि का सार घी है उसी प्रकार समस्त दर्शनों का सार तत्व 'नाम' है :—

सुन्दर सब ही सन्त मिलि सार लियो हरिनाम ।
तक्र तजी घृत काढ़ि कै और क्रिया किहि काम ॥

गरीबदास ने राम 'नाम' को अविगत, अगम, अनन्त, अनादि, अमूल्य, अचल माना है।[२] कवि मलूकदास ने 'नाम' को वह महौषधि माना है जिसके प्रयोग से संकटरूपी सब व्याधियाँ नष्ट हो जाती हैं। 'राम नाम' भवसागर की समस्त व्याधियों के लिए महौषधि है।[३] इस प्रकार हम देखते है कि उपर्युक्त सभी सन्तों ने 'नाम' को भव व्याधि दूर करने का एक महान साधन एवं अलौकिक शक्ति सम्पन्न वस्तु माना है जिसके स्पर्श मात्र से सभी कष्ट दूर हो जाते हैं। ऐसी अमूल्य वस्तु का प्रयोग शान्तिपूर्वक करना चाहिए, यह प्रदर्शन की वस्तु नहीं है। कबीरदास के मतानुसार यदि हृदय में लगन है तो नाम न रटने से कोई हानि नहीं है। पतिव्रता नारी पति की सर्वथा

---

१ राम नाम जाके हिये ताहि नवै सब कोय ।
ज्यों राजा की संक ते सुन्दर अति डर होय ॥ स० बा० स० १, १०८/५

२ ऐसा अविगत नाम है आदि अन्त नहिं कोय ।
बार-बार कोमत नहीं अचल निरन्तर सोय ॥ स० बा० स० १,१८४/२

३ राम नाम औषध करो हिरदै राखो याद ।
संकट में लौ लाइए दूरि करै सब व्याध ॥ मलूकदास की बानी पृ० ३३

सेवा करती हुई भी उसका नाम नहीं लेती है।[१] मलूक ने कबीर से भी अधिक स्पष्ट और प्रभावशाली शब्दों में इस बात का प्रतिपादन किया है। मलूक प्रेम को गोपनीय रखने में ही उसकी पवित्रता एवं महत्ता समझते हैं।[२] मलूक के "होठ न फरकत देखिए" शब्दों को सहजोबाई के "होंठ-होंठ सूँ न हिलैं" में ज्यों का त्यों पाते हैं।[३] इस विषय पर चरनदास के विचार मलूक एवं सहजो से साम्य रखते हैं।[४] सुन्दरदास की निम्नलिखित साखी में मलूक, कबीर, सहजो और चरनदास के उपर्युक्त विचार लहरें ले रहे हैं।

काहू कौं न दिखाइए राम नाम की वस्तु।
सुन्दर बहुत कलाप करि आई तेरे हस्त॥
हृदये मैं हरि सुमिरिये अन्तरजामी राइ।
सुन्दर नीके जत्न सौं अपनौं वित्त छिपाइ॥

जिस प्रकार निराकार होते हुए भी ब्रह्म संसार में सर्वत्र व्याप्त है उसी प्रकार 'नाम' प्रत्येक घट में, सर्वत्र तथा सर्वदा व्याप्त है। मलूक के शब्दों में प्रत्येक घट और मानव के अन्तर्गत ब्रह्म और नाम का उसी प्रकार निवास है जिस प्रकार

---

१ नाम न रटा तो क्या हुआ जो अन्तर है हेत।
पतिबरता पति को भजे मुख से नाम न लेत॥ स० बा० स० १,४१/११

२ सुमिरन ऐसा कीजिए दूजा लखै न कोय।
होठ न फरकत देखिये प्रेम राखिये गोय॥ स० बा० रा० १, १००/७

३ सहजो सुमिरन कीजिए हिरदे माहिं दुराय।
होठ-होठ सूँना हिलै सकै न कोई पाय॥ स० बा० स० १, १५६/२

४ मन ही मन में जाप करु दरसन उज्ज्वल होय।
दरसन होवै राम का तिमिर जाय सब धोय॥ स० बा० स० १, १४४/२

दुग्ध में घृत, तिल में तेल, पुष्प में सुवास, पृथ्वी में जल, दर्पण में प्रतिबिम्ब वर्तमान रहता है।[1]

गरीबदास के अनुसार :—

अगम अनाहद भूमि है जहा नाम का दीप।
एक पलक बिछुरै नहीं रहता नैनों बीच ॥[2]

इसी प्रकार सुन्दरदास ने "राम नाम तिहु लोक में.. ...", लिख कर उसकी व्यापकता सिद्ध की है। कवि के अनुसार राम की भाँति नाम भी सर्वत्र विद्यमान है।

नाम का बड़ा व्यापक प्रभाव है। सुन्दरदास के अनुसार नाम स्मरण ब्रह्म की आराधना का सर्वोत्तम साधन है। ध्यान करते ही ध्याता ध्येय के समान हो जाता है। भवसागर उल्लंघन के लिए दिव्य साधन है। नाम के समान न कोई धर्म है और न कोइ कर्म।

नांव निरन्तर लीजिये अन्तर परै न कोइ।
सुन्दर सुमरन सुरति सौं अन्तर हरि हरि होइ ॥
राम नाम संतनि धरयौ राम मिलन के काज।
सुन्दर पल में पार ह्वै बैठे नाम जिहाज ॥
नाम बराबर तोलिये तुलै न कोऊ धर्म।
सुन्दर ऐसै नाम का लहै न मूरख मर्म ॥

---

१ राम नाम दोउ बसै सरीरा। जैसे घृत रहे मध्य छीरा।
जैसे रहै तिल मे तेला। तैसे राम सकल घट खेला।
जैसे सुमन मा रहै खुसबोई। तैसे राम सकल घट पोई।
जैसे धरती के बिच पानी। तैसे नाम सकल घट जानी ॥
—मलूक कृत भक्ति विवेक

२ स० बा० सं० १८४, ७

नाम के स्पर्शमात्र से मन रूपी लोहे का मैल दूर हो जाता है और वह स्वर्णवत चमकने लगता है।[१] मलूक के अनुसार राम नाम के उच्चारण से मानव का शरीर, हृदय, आकाश सभी ज्ञान के प्रकाश से उसी प्रकार प्रकाशमान हो जाते हैं जिस प्रकार आकाश स्थित सूर्य के प्रकाश से संसार आलोकित हो जाता है।[२] राम नाम के स्मरण मात्र से सभी भेद भाव विनष्ट होकर सांसारिक वस्तुएँ निःसार प्रतीत होने लगती हैं।[३] सुन्दरदास ने अनेक साखियों में 'नाम' भजन को भव भय भगाने का साधन माना है।[४] बिहार वाले दरिया साहब के शब्दों में 'नाम' एक दिव्य पूँजी है जो कभी भी क्षय को नहीं प्राप्त होती है और पास में रहने से यम की बाधा तक नहीं पास आती है।[५] मारवाड़ के दरिया साहब ने 'नाम' के प्रभाव का बड़ा विस्तृत वर्णन किया है। उन्होंने 'नाम' को सूर्य के समान प्रकाशवान माना है। नाम भ्रमों का विनाशक है।[६] नाम के

---

१ आदि नाम पारस अहै मन है मैला लोह।
पारस तें कञ्चन भया छूटा बंधन मोह ॥वही ४/१

२ रवि जिमि बसै अकाश ज्योति परै वाको भुवन में।
तैसे नाम प्रकाश अंदर बाहर सुन्न में ॥ —भक्ति विवेक

३ सकल वस्तु के भेद मिटाना।
कञ्चन काँचु भै एक समाना ॥

४ स० बा० स० १, १०८/८

५ जाके पूजी नाम है कबहि न होवे हानि।
नाम विहूना मानवा जम के हाथ बिकानि ॥
वही १२२/२

६ वही वही १२७/१

प्रभाव से आवागमन विनष्ट हो जाते हैं।[१] शरीर निरोग रहता है।[२] वह एक दिव्य रसायन है।[३] दूलन दास का मत है कि 'नाम' के प्रभाव से संसार में गरम वायु (कष्टों) का स्पर्श नहीं होता और आठों पहर आनन्द छाया रहता है।[४]

नाम की अलौकिक शक्ति का वर्णन सुन्दरदास ने भाँति-भाँति से किया है। शरीर रूपी लोहे को कंचन बनाने वाला यह नाम ही है। (सं. बा. स. १, १०८/६)। सुन्दरदास की भाँति कबीर[५] व मालूक[६] ने भी नाम की शक्ति का वर्णन किया है। उनके अनुसार नाम यद्यपि देखने में छोटा (लघु) है पर उसकी शक्ति निस्सीम है। लघु होते हुए भी वह मानव पापों के कोटिशः पर्वतों को नष्ट करने वाला है। भवसागर की समग्त व्याधियों को हरने वाला है। नानक के अनुसार ही—

साचा नामु आराधिया जम लै भन्ना जाहि।

नानक करनी सार है गुरुमुख घढिया राहि ॥[७]

---

१ वहीं वहा १२७/४

२ वहीं वहो १२७/६

३ वहो वही १२७/७

४ वही वही १३५/८

५ नाम जो रत्ती एक है पाप जो रत्ती हजार।
आध रत्ती घट संचरै जारि करै सब छार ॥

६ राम नाम एकै रतो पाप के कोटि पहार।
ऐसी महिमा नाम की जारि करै सब छार ॥
मलूकदास की बानी—पृ० ३३

७ स० बा० स० भा० १—पृ० ६७/१

दादू ने इसे कोटि-कोटि विकारों का विनाशक माना है।[१] गरीबदास ने 'नाम' को शरीर के लिये निर्मली माना है जो सदैव "निर्मल करै शरीर"।[२]

सन्त कवियों ने 'नाम' को संसार में सार वस्तु माना है। 'नाम' ही मानव को कल्याण दिलाने वाला है। इसीलिए उन्होंने बारम्बार निःसार वस्तु को छोड़ कर सारवस्तु ग्रहण करने का उपदेश दिया है। सुन्दरदास ने 'नाम' को तक्र (मठा) से निकले हुए घी के समान माना है जिसको सन्तों ने संसार से खोज निकाला है।[३] दरिया साहब (बिहारवाले) के शब्दों में :—

संत नाम निजु सार है, अमर लोक के जाय।
कह दरिया सतगुरु मिलै, संसय सकल मिटाय॥[४]

और दया बाई के अनुसार इस जग में सार वस्तु नाम ही है जिसके भजन से मनुष्य स्वयं ही हरि के समान हो जाता है :—

दया दास हरि नाम लै, या जग में यह सार।
हरि भजते हरी ही भये, पायो भेद अपार॥[५]

और गरीबदास के शब्दों में :—

नाम सरोवर सार है, सोहं सुरत लगाय।
ज्ञान गलीचे बैठ करि, सुन्न सरोवर न्हाय॥[६]

---

१ राम नाम निज औषधि काटै कोटि विकार। स० बा० १, पृ०—७१/७

२ ऐसा निर्मल नाम है, निर्मल करै सरीर। स० बा० १, पृ०—१८४/८

३ स० बा० १, पृ०—१०८/६

४ स० बा० १, पृ०—१२१/१

५ स० बा० १, पृ०—१६८/२

६ स० बा० १, पृ०—१८६/२३

सन्तों ने नाम को 'पारस' की संज्ञा भी दी है। पारस वह पदार्थ है जिसके स्पर्श से लोहा भी सोना बन जाता है। यहाँ पर नाम पारस और मानव को साधारण तत्व होने की कल्पना की गई है। कबीर,[१] दरिया साहब (मारवाड़ वाले)[२] दूलनदास जी,[३] सहजोबाई,[४] गरीबदास जी[५] तथा पलटू[६] सुन्दरदास आदि (सं० बा० सं० १, पृ० १०८) अन्य सन्तों ने बारम्बार इस बात का उल्लेख किया है कि नाम रूपी पारस के स्पर्श मात्र से काया स्वर्णवत् हो जाती है काया दोषरहित होकर निर्मल बन जाती है। नाम के स्पर्श मात्र से काया के स्वर्णवत् हो जाने की कल्पना; नाम की शक्ति तथा व्यापक प्रभाव की द्योतक है। नीचे दिये उद्धरणों से प्रकट होता है कि संत फूलनदास 'नाम' के इस प्रभाव से बहुत परिचित थे। उनका कथन है कि नाम के स्पर्श

---

१ आदि नाम पारस अहै, मन है मैला लोह।
परसत ही कंचन भयो, छूटा बन्धन मोह॥

२ लोह पटल कञ्चन भया, करि पारस का संग।
दरिया परसै नाम को, सहजहि पलटै अंग॥
दरिया सुमिरै नाम को, आतम को आधार।
काया काँची काँच सी, कञ्चन होत न बार॥

३ दूलन नाम पारस परसि, भयो लोह से सोन।
कुन्दन होइ कि रेसम बहुरि न लोहा होन॥

४ पारस नाम अमोल है, धनवन्ते घर होय।
परख नहीं कंगाल के, सहजो डारै खोय॥

५ पारस नाम तुम्हार है, लोह हमारी जात।
जउ सेतो जउ पलटिया, तुम कूँ केतिक बात।

६ जरि बूटी के खोजते, गई सुध्याई खोय।
पलटू पारस नाम का मनै रसायन होय॥

मात्र से लोहा रूपी शरीर सोनावत् अथवा कुन्दन अथवा रेशमवत् निर्मल कोमल बन जाता है परन्तु यह निश्चय हो कि उसे फिर कभी भी लोहा के समान मलीन और अनादृत नहीं बनना है। और इसी मत से साम्य रखने वाले हैं कबीर, सहजोबाई, गरीबदास आदि।

कवियों की उक्तियाँ बड़ी मनोरंजक और स्वाभाविक हुआ करती हैं। किसी ने संसार को भवसागर किसी ने ईश्वर को कर्णधार, कष्टों को झंझावात और शरीर को जर्जर नौका की उपमा दी है। सन्तों ने भी सांसारिक घात प्रतिघातों, संघर्षों तथा द्वन्द्वों को भवजल भंवर की उपमा दी है और उनमें (भंवरों) में डूबते हुए जीव के लिए नामरूपी पोत या जहाज की आशा का उल्लेख किया है। ईश्वर को जहाज की कल्पना का नाम बड़ा ही मनोरंजक और स्वाभाविक है। सुन्दरदास ने भवसागर पार करने के लिए नाम को जहाज और नाव की संज्ञा प्रदान की है। (सुन्दर ग्रन्थावली भाग २, पृ० ६७६) सहजोबाई की साखियों से एक शब्द चित्र पठनीय है: अथाह भवसागर बह रहा है चारों ओर घोर अन्धकार का साम्राज्य है। क्षितिज पर काले काले मेघ मंडला रहे हैं। वर्षा हो रही है जीव इन विषम परिस्थितियों में भी उस पार सकुशल जाने का आकांक्षी है। बिना नामरूपी जहाज के यह यात्रा कैसे संभव हो सकती है।[1] दयाबाई ने भी 'नाम' को नाव, हरि को केवट और संसार को भवसागर माना है।[2] और पलटू साहब के शब्दों में:—

---

१ सहजो भवसागर बहै तिमिर बरस घनघोर।
तामे नाम जहाज है पार उतारे तोर॥

२ दया नाव हरि नाम की सतगुरु खेवनहार।
साधू जन के संग मिलि तिरत न लागै बार॥

पलटू जपतप के किहे, सरै न एकौ काज ।
भवसागर के तरन को, सतगुरु नाम जहाज ॥[१]

गोस्वामी तुलसीदास की भाँति संत कवि मलूकदास भी राम नाम के बड़े समर्थक हैं। गोस्वामी जी के शब्दों में केवल वही माता पुत्रवती है जिसका पुत्र राम का भक्त है[२] मलूकदास के अनुसार भी वही पुत्र सुपूत है जो राम का भक्त है और वही माता सुन्दरी है जिसका पुत्र राम नाम से प्रेम रखता है।[३] राम नाम सर्वशक्तिमान है क्योंकि नाम का उच्चारण करता हुआ व्यक्ति देवेन्द्र को भी तुच्छ समझता है।[४]

सन्तों ने अपने काव्य में 'नाम' लेने वाले भक्तों के पाँव की जूती बनने तक की कामना प्रकट की है। यह भक्ति की परम सीमा है। कबीर अपने शरीर की चाम से उस व्यक्ति की पैतरी बनने की कामना करते हैं जिसके मुँह से भूल के भी 'नाम' निकल जाता है।[५] पलटू साहब नाम जप करने वाले सन्तों की पनही की धूल तक बनने के आकांक्षी हैं:—

---

१ स० बा० संग्रह १, २१४/२

२ युवती पुत्रवती जग सोई, रघुबर भक्त जासु सुत होई ।

३ सोई पूत सपूत है जाहि नाम सो हेत ।
तथा—:राम नाम जिन जानिया तेई बड़े सपूत ॥
एक राम के नाम बिन कागा फिरै कुपूत । मलूकदास की बानी पृ० ३५

४ गांठी सत्त कुवीन में सदा फिरै निःसंक ।
नाम अमल गाता रहै गिनै इन्द्र कांटंक ॥
मलूकदास की बानी पृ० ३३

५ सपनहु में बर्राइ, धोखेहु निकरै नाम ।
वाके पगरी पैतरी औ तन को चाम ॥

राम नाम जेहि उच्चरैं, तेहि मुख देहुँ कपूर ।
पलटू तिनके नफर की पनही का मैं धूर ॥

कबीर और पलटू साहब के विचारों से साम्य रखने वाले गोस्वामी जी के निम्नलिखित पद पठनीय हैं :—

तुलसी जाके मुखन ते धोखेहु निकरहि राम ।
ताके पगरी पैंतरी मेरे तन को चाम ॥

कबीर, पलटू और तुलसीदास के समान ही सुन्दरदास ने अपनी साखियों में अनेक अवसरों पर सप्रेम नाम लेनेवालों का दास बनने की कामना प्रकट की है ।

सुन्दरदास के अनुसार नाम स्मरण ही ब्रह्म की उपासना का सर्वोत्तम साधन है । जप, तप, तीरथ, नियम, दान, व्रत आदि 'नाम' जप की तुलना में निःसार और तत्व रहित हैं । मिथ्या साधनों को त्याग कर कवि ने बार-बार 'नाम' जप का उपदेश दिया है :—

राम नाम बिन लैन कौ और वस्तु कहि कौन ।
सुन्दर जप तप दान व्रत लागे सारे लौन ॥
नाम लिया तिन सब किया सुन्दर जप तप नेम ।
तीरथ अटन सनान व्रत तुला बैठि दत्त हेम ॥
नाम बराबर तोलिया तुलै न कोऊ धर्म ।
सुन्दर ऐसै नाम का लहै न मूरष मर्म ॥

'नाम' स्मरण साधना का सरलतम तथा सर्वश्रेष्ठ साधन है । मानव कष्टों को सहन करके, काया को कष्ट देकर, तप साधना करना 'नाम' स्मरण की तुलना में महत्वहीन है :—

राम भजन परिश्रम बिना करिये सहज सुभाइ ।
सुन्दर कष्ट कलेस तजि मन की प्रीति लगाइ ॥

इसी प्रकार कवि ने 'नाम' जप की भौतिक जीवन और व्यावहारिक जीवन में समान रूप से उपयोगिता निम्नलिखित साखी में व्यक्त की है:—

राम नाम भोजन करै राम नाम जल-पान ।
राम नाम सौं मिलि रहै सुन्दर राम समान ॥

सन्तों की सहज-समाधि साधना

हठयोग की अन्तिम अवस्था का नाम समाधि है। समाधि योग का चरम फल है। इस अवस्था में मनुष्य समस्त क्लेशों एवं तापों से मुक्त हो जाता है और उसे अनेक प्रकार की शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं। समाधि ध्यान का पर्याय शब्द है। समस्त संकल्पों से सर्वथा शून्य हो जाना ही समाधि है। जाबालदर्शनोपनिषद् के अनुसार "जीवात्मा एवं परमात्मा के ऐक्य ज्ञान के उदय को ही 'समाधि' कहते हैं।"[1] तेजोविंदु-पनिषद् के मत से "ब्रह्माकार वृत्ति वा सर्वसंकल्पनिवृत्ति के द्वारा चित्त की समस्त वृत्तियों को विसर जाना ही 'समाधि' है।"[2] अन्नपूर्णोपनिषद् में उल्लेख मिलता है कि "समाधि शब्द उस संशयरहित मानसिक पूर्णता का वाचक है जिसमें आसक्ति का सर्वथा अभाव है और जिसमें सद्विवेक भी नहीं है।"[3] सौभाग्यलक्ष्युपनिषद् के मत से "जीवात्मा की परमात्मा के साथ एकता ही, जिसमें संकल्प की समस्त क्रियाएँ विनष्ट हो जाती हैं 'समाधि' कहलाती है।"[4] मुक्तिकोपनिषद् में कहा गया

---

१ जाबालदर्शनोपनिषद्—१०/१

२ तेजोविंदुपनिषद्—१/३७

३ अन्नपूर्णोपनिषद्—१/५०

४ सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद्—१६

है कि "मुनियों द्वारा साधित 'समाधि' उस संकल्पशून्य अवस्था का नाम है जसमें न तो मन की क्रिया होती है और न बुद्धि का व्यापार, जो आत्मज्ञान की अवस्था है और जिसमें उस प्रत्यक चैतन्य के अतिरिक्त सबका बाध है।"[१] शांडिल्योपनिषद् में समाधि का निम्नलिखित परिभाषा दी गई है "जीवात्मा एवं परमात्मा की एकता की वह अवस्था जिसमें ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान का अभाव हो जाता है, जो परमानन्दरूपा है एवं शुद्ध चैतन्यात्मिका है वही 'समाधि' है।"[२] पातंजल योग के अनुसार "तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः" अर्थात् ध्यान के स्थिर हो जाने के अनन्तर साधक का मन ध्येयाकार बन जाता है और वह स्वतः अपने स्वरूप को बिसर जाता है। इसी अवस्था को 'समाधि' कहते हैं।"[३] घेरण्डसंहिता के अनुसार मन को शरीर से भिन्न करके परब्रह्म के साथ एकात्मकता स्थापित करना ही समाधि है। जो योगी समाधि साधना करता है उसको ज्ञान उत्पन्न होता है कि मैं ही ब्रह्म हूँ, मैं ब्रह्म से पृथक नहीं हूँ, मैं शोकरहित, नित्यमुक्त तथा ब्रह्म-प्रकृतिस्थ हूँ।[४]

इस प्रकार चित्त की वृत्तियों का अहंकार शून्य होकर ब्रह्माकार बन जाना सम्प्रज्ञात समाधि का स्वरूप है। जब चित्त

---

१ मुक्तिकोपनिषद्—२/५५

२ शांडिल्योपनिषद्—१/११

३ पा० यो० विभूति० ३

४ घटाद्भिनः मनः कृत्वा ऐक्यं कुर्यात्परात्मनि।
समाधिं तद्विजानीयान्मुक्तसंज्ञो दशादिभिः॥
अहंब्रह्म न चान्योऽस्मि ब्रह्मैवाहं न शोकभाक्।
सच्चिदानन्द रूपोऽहं नित्यमुक्तः स्वभाववान्॥

घेरण्डसंहिता, सप्तमोपदेशः ३, ४

अपनी चैतन्यस्थिति से उन्मुक्त हो जाता है तब इस क्षीण चित्त स्थिति को वाह्य प्रतीतिशून्यता कहा जाता है। यह जाग्रत अवस्था में सुषुप्ति की स्थिति है। यह जाग्रत अवस्था की सुषुप्ति अभ्यास साध्य है। अभ्यास द्वारा इसे प्रौढ़ बना लेने पर इसे समाधि अवस्था कहते है। समाधि की अवस्था में साधक के चित्त को स्वचित्तता भूलकर ध्येयाकार बन जाना परमावश्यक है। चित्त की अहंबुद्धि उसे परब्रह्म से पृथक रखती है। परन्तु इस तत्व के विनाश के साथ ही जीवात्मा अपने वास्तविक तेजोमय रूप को प्राप्त करता हुआ परमात्मा के साथ एक हो जाता है। यही समाधि का चरम लक्ष्य है। अहंकार एवं चंचलता से रहित मन या चित्त अमर कहलाता है, यही मोक्ष या निर्वाण है। समाधि की अवस्था तक पहुँचने के हेतु संकल्पशून्यता और मन की निश्चलता आवश्यक होती है।

जाग्रत अवस्था में प्रत्येक चैतन्य अन्तर्हित रहता है। इस अवस्था में क्षिप्त मन को इन्द्रियों के साधन या माध्यम से रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श आदि के रूप वाह्य प्रपंच का अनुभव होता रहता है। इन्द्रियाँ मन की अनुगामिनी होती हैं। मन की चंचलता और संयम का प्रभाव इन पर सबसे पहले पड़ता है। मन को संकल्पों या वृत्तियों से शून्य कर देने पर वाह्य प्रपंच भी विलीन हो जाता है। वाह्य आवरणों के विनष्ट हो जाने के अनन्तर आभ्यान्तरिक सार-तत्व प्रकट हो जाता है। समाधि का लक्ष्य यही सार-तत्व को प्राप्त करना है। यही समाधि साधक की साधना एवं आनन्द की चरम अवस्था है। श्रुति का कथन है कि समाधि द्वारा प्राप्त आनन्द वर्णनातीत है, वह केवल अंतःकरण के अनुभूति की वस्तु है:—

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो,
निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं लभेत् ।
न शक्यते वर्णयितुं गिरातदा,
स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते ।

(मैत्रायण्युपनिषद्)

समाधियोग ६ प्रकार का है:—

१	ध्यानयोग समाधि	४	लयसिद्धियोग समाधि
२	नादयोग समाधि	५	भक्तियोग समाधि
३	रसानन्द योग समाधि	६	राजयोग समाधि

शाम्भवीमुद्रा के अवलम्बन पूर्वक ध्यान-योग-समाधि, खेचरी मुद्रा के अवलम्बन पूर्वक नादयोग समाधि, भ्रामरी नामक कुम्भक के अवलम्बन पूर्वक रसानन्दयोग समाधि, योनि मुद्रा के अवलम्बन से लयसिद्धि योग समाधि, भक्ति का अवलम्बन करते हुए भक्ति योग समाधि तथा मनो मूर्च्छा नामक कुम्भक का अनुष्ठान करने से राजयोग समाधि का अनुष्ठान सम्पन्न होता है ।[1]

अब यहाँ पर समाधि के विभिन्न प्रकार की विवेचना अपेक्षित है । सर्व प्रथम हम यहाँ पर ध्यान योग पर विचार करेंगे । साधक सर्व प्रथम शाम्भवी मुद्रा का अनुष्ठान करके

---

१ शांभव्या चैव खेचर्या भ्रामर्या योनि मुद्रया ।
ध्यानं नादं रसानन्दं लय सिद्धिश्चतुर्विधा ।।
पंचधा भक्ति योगेन् मनो मूर्च्छाच षडविधा ।
षड्विधोऽयं राजयोगः प्रत्येक भव धारयेत् ।।

घेरण्ड संहिता, सप्तमोपदेशः ५, ६

आत्म प्रत्यक्ष करे, पुनः विन्दुमय ब्रह्म का दर्शन करता हुआ उस विन्दुस्थल में मन को नियोजित करे। तदनन्तर ब्रह्मलोक मय आकाश में आत्मा को लाए और फिर शिर में स्थित ब्रह्मलोकमय आकाश को जीवात्मा में लाए। इस प्रकार जीवात्मा को परमात्मा में लीन करके नित्यानन्द मय हो जाना ही ध्यान योग समाधि है।[1]

द्वितीय है नादयोग समाधि। खेचरीमुद्रा का अनुष्ठान करके रसना को ऊपर रखा जाता है। इस साधना से साधारण क्रियाएँ छूटकर समाधि सिद्ध हो जाती है। यही नादयोग समाधि है।[2] तृतीय रसनानन्द योग समाधि है। भ्रमरी नामक कुम्भक की साधना से शनैः-शनैः श्वास वायु को निकाल दे। इस योग की साधना करते समय शरीर के अन्दर भौंरे की गुञ्जार के समान शब्द सुनाई देता है। शरीर में जहाँ यह नाद समुत्पन्न होता है। वहीं मन को नियोजित कर लेना रसनानन्द योग समाधि है।

---

१ शाम्भवी मुद्रिकां कृत्वा आत्मप्रत्यक्षभानयेत्।
विन्दु ब्रह्म सकृद् दृष्ट्वा मनस्तम नियोजयेत॥
खमध्ये कुरु चात्मानं आत्ममध्ये चखं कुरु।
आत्मान खमयं दृष्ट्वा न किंचिदपि वाध्यते॥
सदानन्दमयोभूत्वा समाधिस्थो भवेन्नरः॥

घेरण्ड संहिता, सप्तमोपदेशः ७,८

२ साधनात्खेचरी मुद्रा रसनोर्ध्वगता स
तदा समाधिसिद्धिः स्याद्धित्वा साधारण क्रियाम्॥

घेरण्ड संहिता, सप्तमोपदेशः ६

इस योग के माध्यम से सोऽहम् का ज्ञान उत्पन्न है।[1] चतुर्थ लयसिद्धियोग समाधि है। इसकी साधना में योगी सर्वप्रथम योनिमुद्रा का अनुष्ठान करता हुआ अपने में शक्तिरूप की भावना करता है अर्थात् अपने में स्त्री और परमात्मा में पुरुष रूप की भावना करता है। पुनः साधक मन ही मन विचार करता है कि "पुरुष परमात्मा के साथ मेरा विहार होता है। इस विहार से जो परम आनन्द रस उत्पन्न होता है उसमें निमग्न होकर परब्रह्म से अभिन्न रूप वाले प्रणव में मिल गया हूँ।" इस समाधि को लयसिद्धियोग समाधि कहते हैं।[2] समाधि का पंचम प्रकार है भक्तियोग समाधि। इसकी साधना में साधक अचलभक्ति, आह्लाद के साथ हृदय में इष्टदेव का चिंतन करता है। इसके द्वारा आनंद के अश्रु बहने लगते हैं, शरीर पुलकित रहता है, मन अचेत हो जाता है और परब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है। यही भक्तियोग समाधि है।[3] इसके अनन्तर अंतिम

---

१ अनिलं मन्दवेगेन भ्रामरी कुम्भकं चरेत्।
मन्दं मन्दं रेचयेद्वायुं भृंगनादं ततोभवेत्॥
अन्तःस्थ भ्रामरीनादं श्रुत्वा तत्र मनोनयेत्।
समाधिजायते तत्र आनदः सोहमित्युत॥ वही, वही, १०, ११॥

२ योनिमुद्रां समासाद्य स्वयं शक्तिमयो भवेत।
सुश्रंगाररसेनैव विहरेत्परमात्मनि॥
आनन्दमयः संभूत्वा ऐक्यं ब्रह्मणि सम्भवेत्।
अहंब्रह्मेतिवाद्वैतं समाधिस्तेन जायते॥ वही, वही, १२,१३॥

३ स्वकीयहृदये ध्यायतिष्टदेवस्वरूपकम्।
चिंतयेद्भक्तियोगेनं परमाल्हादपूर्वकम्॥
आनन्दाश्रुपुलकेनदशाभावः प्रजायते।
समाधिः सम्भवेत्तेन सम्भवेच्च मनोन्मनिः॥ वही, वही, १४, १५॥

है राजयोग समाधि। मनोमूर्च्छा नामक कुम्भक का अभ्यास करता हुआ साधक मन को ब्रह्म में एकाग्र कर देता है। ब्रह्म के मिलन से समाधि सिद्धि प्राप्त होती है जिसे राजयोग समाधि कहते हैं।[1]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि साधना के क्षेत्र में समाधि का क्या महत्व, एवं स्थान होता है और मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से समाधि की कितनी आवश्यकता होती है। योग के क्षेत्र में समाधि की अवस्था को विरले ही भाग्यवान पहुँच पाते हैं। समाधि लक्ष्य पर पहुँचने के पूर्व कितने ही साधक पथ भ्रष्ट हो जाते हैं और कितने ही भ्रम एवं सन्देह में फँसकर साधना च्युत हो जाते हैं। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा और ध्यान को सीढ़ियों का सफलतापूर्वक उल्लंघन करते हुए ही साधक साधना के इस चरम स्तर पर पहुँच सकता है। योग के क्षेत्र में समाधि साधना अत्यन्त दुरूह कार्य है। वाह्य प्रपंचों से विमुख होकर इन्द्रियों के विरोध के द्वारा समाधि में सत्य का साक्षात्कार करना सरल कार्य नहीं है। इसी प्रकार इन्द्रियों का निर्व्यापार कर देना भी सरल कार्य नहीं है। हृदयस्थ 'अहं' को मारना अत्यन्त कठिन कार्य है। इन सब कठिनाइयों के अनन्तर समाधि की स्थिति आती है जिसकी दुःसाध्यता का वर्णन ऊपर हो चुका है।

हिन्दी के संत कवियों ने जीवन, दार्शनिक विचार, आध्यात्मिक साधना, शिक्षा, दीक्षा, उपदेश, भाषा, भावों की अभि-

---

१ मनोमूर्च्छां समासाद्य मन आत्मनियोजयेत्।
परात्मनः समायोगात् समाधिं समवाप्नुयात्॥ वही, वही, १६॥

व्यक्ति के माध्यम आदि सभी दिशाओं में जनता का ध्यान रखा। यह कहना उचित होगा कि ये संत जनता के कवि थे। इनके साहित्य में तत्कालीन जनता की भावनाएँ अभिव्यक्त मिलती हैं। इनके साहित्य का प्रयोजन जन जीवन को अधिक सुखी, समुन्नत तथा सुसंस्कृत बनाना है। इसीलिए इनके साहित्य का केन्द्र बिन्दु है जनता। कबीर आदि संतों ने जहाँ एक 'भाषा' में अपने विचारों को व्यक्त करके जन साधारण के लिए उसे सुलभ बना दिया वहाँ उन्होंने साधना को भी जनता के साधारण व्यक्तियों के लिए सुलभ एवं सहज बनाने का प्रयत्न किया। इतना ही नहीं, उन्होंने योग जैसी कठिनतम प्रक्रियाओं को भी जनता के लिए सहज तथा सुगम बनाकर उसका प्रचार किया। कबीर, दादू, नानक, मलूक, जगजीवन आदि संत जानते थे कि क्लिष्ट और दुःसाध्य साधना सभी के लिए न तो उपादेय है और न उसकी खपत ही है। जनता का वह वर्ग जो अधिक शिक्षित नहीं है अधिक संस्कृत नहीं है उसके लिए सुगम मार्ग का खोज निकालना परमावश्यक है। देश की तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों को देखते हुए भी इस प्रकार की सहज साधना की जनता के हेतु आवश्यकता बनी हुई थी। मुसलमानों के राज्यकाल में जहाँ जीवन रक्षा का प्रश्न अत्यन्त कठिन बनता जा रहा था वहाँ यौगिक साधना असम्भव होती जा रही थी। मन्दिरों और देवालयों के ध्वंस के कारण साधना को सहज बनाने की और भी अधिक आवश्यकता थी।

धर्म की साधना जितनी ही सहज होगी उतनी ही जनप्रिय तथा बोधगम्य। इसीलिए सन्तों ने साधना में सहज को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया। सहज उपासना की अवस्था में साधना, धर्म, कर्म, आचार, वाह्याडम्बर, जप, माला, तिलक आदि से

पृथक हो जाती है। साधक जीवन क्षेत्र में यात्रा करता हुआ वाह्यउपकरणों में प्रवृत्त हुए बिना सतत सहज साधना में संलग्न रहता है। इस सहज साधना में प्रवृत्त साधक सन्त दादू की भाँति सामाजिक व्यवहार या पारस्परिक व्यवहार में भी सहज को ही दृष्टि में रखता है। संसार में वह 'पद्मपत्र मिवाभंसः' रहते हुए वाद-विवाद तथा तर्क प्रमाण से कोसों दूर रहता है और आत्मविचार करके समदृष्टि को ग्रहण करता है।[१] साधक को विश्वमय ऐक्य ज्ञान और समदृष्टि प्राप्त हो जाने के अनन्तर उसे स्वतः अपने अन्तर में सहज स्वरूप ब्रह्म के दर्शन प्राप्त होते हैं। ऐसी ही स्थिति पर पहुँच कर संत दादू ने कहा था कि "मैं तो मन की आँखों से निरन्तर हृदयस्थ सहज के दर्शन करता हूँ। सहज का वह अनुपम सौंदर्य देखकर मैं तो आत्मविभोर और मन्त्र मुग्ध हो गया हूँ। अपने ही अन्तर में स्वामी एवं सेवक को एक साथ आनन्दपूर्वक विराजते हुए देखता हूँ। वह अन्तर्यामी बड़े यत्नों से उपलब्ध हो सका है।"[२] हृदयस्थ सहज स्वामी के दर्शन पाने के लिए प्रेम और केवल प्रेम चाहिए। उसके लिए न तो तप की आवश्यकता है न तीर्थ भ्रमण की और न इन्द्रिय निग्रह की। सहज साधना में ध्यान

१ वादविवाद काहू सौं नाहीं, माहिं जगत थैं न्यारा।
समदृष्टि सुभाइ सहज हैं, आपहि आप विचारा॥

२ सेवक स्वामी संगि रहै, बैठे भगवाना।
मधि नैन निरखौं सदा, सो सहज स्वरूप।
निर्भै स्थान सुहात सो, तहँ सेवक स्वामी॥
देखत ही मन मोहिया, है सोतत्व अनूप।
अनेक जतन करि पाइया, मैं अन्तरजामी॥

धारणा आदि निःसार हैं। इसमें योग युक्ति लेशमात्र भी सहायक नहीं है। संसार के समस्त जंजाल एवं टिटम्बे छोड़ कर साधक उसी 'सहज पुरुष' में लीन हो जाता है क्योंकि वही तो एक आधार और तरण-तारण है ।[1] दादू को सतगुरु की कृपा से घर (काया) के अन्दर ही आश्रय प्राप्त हो गया। 'सहज' ब्रह्म उसी भवन में प्रतिष्ठित मिला। सद्गुरु ने महल का दरवाजा खोल कर अचंचल स्थान दिखा दिया जिससे समस्त भ्रम भग गया और मन उसी 'एक' के रंग में अनुरंजित हो गया :—

भाई रे घर ही में घर पाया,
सहज समाइ रह्यो ता माहीं, सतगुरु खोज बताया ।
ता घर काजि सबै फिर आया, आपै आप लखाया ॥
खोलि कपाट महल के दीन्हें, फिर स्थान दिखाया ।
भयऊ भेद भर्म सब भागा, साच सोइ भान लागा ॥
निहचल सदा चलै नहीं कबहूँ, देख्या सब मैं सोई ।
ताही सों मेरा मन लागा, और न दूजा कोई ॥
आदि अनन्त सोई घर पाया, रव मन अनत न जोई ।
दादू एक रंगै रंग लाया, तामैं रहा समाई ॥

---

१ ना तप मेरे इन्द्री निग्रह, ना कुछ तीरथ फिरना ।
देवल पूजा मेरे नाहीं, ध्यान कछू नहिं धरणा ॥
जोग जुगति कछू नहिं मेरे, ना मैं साधन जानौं ।
दादू एक गलित गोबिंद सो, इहि बिधि प्राण पतीजै ॥
हरि केवल एक अधारा, सोइ तारण तिरण हमारा ॥

उस "देवन का देव" के दर्शन आत्मा के अन्दर सहज के रूप में हुए। दादू के शब्दों में :—

काया अन्तरि पाइया, त्रिकुटी के रे तीर।
सहजै आप लखाइया, व्यापा सकल शरीर॥
काया अन्तरि पाइया, निरन्तर निरधार।
सहजै आप लखाइया, ऐसा समृथ सार॥
काया अन्तरि पाइया, अनहद बेन बजाइ।
सहजै आप लखाइया, सुन्य मण्डल मैं जाइ॥
काया अन्तरि पाइया, सब देवन का देव।
सहजै आप लखाइया, ऐसा अलख अभेव॥

जो ब्रह्म 'सहज' है और सहज ही दर्शन देने वाला है उसकी कल्पना करना व्यर्थ और निस्सार है।[1] उस सहज के दर्शन मात्र परमानन्द है और वही साधना की चरम स्थिति, श्रेष्ठ समाधि है। उस सहज के दर्शन मात्र से साधक सहज समाधि से समाहित हो जाता है, इस सहज समाधि का वर्णन असम्भव है। गूँगा गुड़ के स्वाद का वर्णन क्यों कर कहे? समुद्र के मध्य बिन्दु किस प्रकार तोला जा सकता है? दादू के शब्दों में :—

थकित भयौ मन कह्यौ न जाई।
सहज समाधि रह्यौ ल्यौ लाई॥
सागर बूँद कैसे करि तोलै।
आप अबोल कहा करि बोलै॥

---

१ काम कल्पना कदे न कीजै, पूरण ब्रह्म पियारा।
इहि पंथ पहुँचि पार गहि दादू, सोचत सहज संभारा॥

'सहज' ब्रह्म की साधना भी सहज ही होनी चाहिए। साधक के दैनिक जीवन और साधना में न तो कोई विरोध अपेक्षित है और न दूरी। जीवन की दैनिक गति एवं शाश्वत गति में पूर्णरूपेण सहज योग समुपस्थित होना चाहिए। इसीलिए सन्तों ने बारम्बार इस बात पर जोर दिया कि साधना को दैनिक जीवन का एक अङ्ग बनाना चाहिए। अन्यथा साधना वाह्याडम्बरों से अच्छादित होकर केवल एक टिटम्बा बन जायगी। राम नाम जप के लिए सभी समय, सभी स्थान उपयुक्त हैं फिर वाह्याचारों के जंजाल को क्यों अङ्गीकार किया जाय। इसीलिए कबीर, दादू, नानक, सुन्दरदास आदि सन्तों ने गृहस्थी के उत्तरदायित्व का निर्वाह करते हुए सहज साधना की और इस सत्यपथ का सन्देश जनता को सुनाया। इस विषय में संत सुन्दर दास के निम्नलिखित शब्द पठनीय हैं :—

सहज निरंजन सब में सोई सहजै संत मिलै सब कोई ॥
सहजै शंकर लावे सेवा। सहजै सनकादिक गुरु देवा ॥
सोजा पीपा सहज समाना। सोना धना सहजै रस पाना ॥
जन रैदास सहज को बन्दा। गुरु दादू सहजै आनन्दा ॥

सहज समाधि साधना के लिए प्राणहीन तपस्या, बहुरूपियों के सदृश्य रूप संवारना, व्यर्थ के आडम्बर अपेक्षित नहीं। दादू के मत से सभी नाना प्रकार के वेश धारण करके आत्म प्रदर्शन करना चाहते हैं, पर आपा मेट कर साधना कोई नहीं करता है:—

सब दिखलावैं आपकूं नाना भेख बनाइ।
आपा मेटन हरि भजन तेहि दिशि कोइ न जाइ ॥

रैदास ने सहज साधना और मानसी उपासना के समर्थन में विचार प्रकट करते हुए कहा है कि "हे भगवन मैं तुम्हारी अर्चना करने के विचार से तो आया हूँ पर तुम्हारे चरणों पर चढ़ाने के लिए मेरे पास कुछ भी तो नहीं है। मुझे अनूठे फल-फूल तो कहीं नहीं मिलते। अतः अब तुम्हारी मानसी पूजा ही करूँगा जिसमें धूप दीप सभी कुछ मानसिक ही होगा। मन से ही तुम्हारे सहज-स्वरूप की सेवा सहज समाधिस्थ होकर करूँगा":—

राम मैं पूजा कहा चढ़ाऊँ ? फल अरु फूल अनूप न पाऊँ।
मन ही पूजा मन ही धूप, मन ही सेऊँ सहज सरूप।
पूजा-अरचा न जानू तेरी, कह रैदास कवन गति मेरी।
तोड़ू न पाती पूजूं न देवा, सहज समाधि करूं हरि सेवा॥

गुरु शुकदेव जी की अनन्त कृपा से चरनदास जी ने भी सहज समाधि का मधुर अनुभव प्राप्त किया। सहज समाधि के लगते ही ध्यान, जप, तप, पूजा सभी कुछ बिसर गया। इतना ही नहीं समाधि के चमत्कारी प्रभाव से चरनदास जी आत्मा और परमात्मा सभी कुछ भूल कर केवल "सहज" की साधना में रत हो गए। सहज समाधि का साधक अपने विषय में अचेत ही रहता है।

निरंतर सहज समाधि लगाई।
ऐसी लगी टरै नहि कबहूँ करनी आस छुटाई॥
काको जप तप ध्यान कौन कूँ करै अब पूजा।
कियो विचार नेक नहिं निकसै हरि बिन और न दूजा।
मुद्रा पांच सहज गति साधी आलस आस न सोई।
सब रस भूल ब्रह्म जब सोधा आप विसर्जन होई॥

भूलो बंध मुक्ति गति साधन ज्ञान विवेक भुलाना ।
आतम-अरु परमातम भूला मन भयो तत गलताना ॥
अचल समाधि अंत नहिं ताको गुरु सुकदेव बताई ।
चरनदास की खोज न पैये सागर लहरि समाई ॥

संत भीखा साहब का सहज समाधि विषय मत भी पठनीय है:—

करो विचार निधरि अवराधिये, सहज समाधि मन लाव भाई ।
जब जल की आस तें होहु निरास, तब मोच्छ दरबार की खबरि पाई ॥

न तो मर्म अरु कर्म बिच भोग भटकन लग्यो,
जरा अरु मरन तन वृथा जाई ।
भीखा मानै नहीं कोटि उपदेस सठ,
थक्यों बेदांत जुग चारि गाई ॥

संत पलटू के शब्दों में सहज समाधि की महत्ता पठनीय है ।

फूटि गया आसमान सबद की धमक में ।
लगी गगन में आग सुरति की चमक में ॥
सेस नाग औ कमठ लगे सब कपने ।
अरे हाँ पलटू सहज समाधि कि दसा खबर नहिं अपने ॥

कबीर दास की बानियों में सहज समाधि के विषयक विचार और भी स्पष्ट है। कबीर का मत है कि सहज समाधि की साधना सर्व श्रेष्ठ है इसलिए कि जिस दिन से यह सहज अवस्था जागृत हुई उस दिन से समाधिगत शांति बढ़ती ही गई। दैनिक जीवन के जितने भी कृत्य हैं वही उस सहज ब्रह्म की उपासना है। क्या बस्ती और क्या वीरान सब समान प्रतीत

होने लगे हैं। चौबीसों घण्टे ब्रह्म का नाम गुंजरित रहता है। सहज समाधि के जागृत होते ही द्वैत भावना विनष्ट हो गई अब न आँखें मूँदने की आवश्यकता रह गई न कान मूँदने की। खुले नेत्रों से प्रियतम पहचान में आ जाता है। वासनाएँ और विकार विनष्ट हो गए। ऐसी सहज समाधि लग गई है कि उठते बैठते और समस्त कार्यों में संलग्न रहते हुए वह कभी भंग नहीं होती है। यही उन्मनी अवस्था की स्थिति है। यही दुख-सुख, हर्ष-विषाद, से परे वह स्थिति है जहाँ पहुँच कर साधक परमानन्द में लीन हो जाता है और परमपद को प्राप्त होता है। इस स्तर पर पहुँच कर बाह्याचार एवं लोकाचार के समस्त बन्धन विच्छिन्न हो जाते हैं। कबीर दास के शब्दों में यह सहज समाधि पठनीय होगी:—

साधो, सहज समाधि भली।
गुरु प्रताप जा दिन सों जागी दिन दिन अधिक चली॥
जहं जहँ डोलौं सो परिकरमा, जो कुछ करौं सो सेवा।
जब सोवौं तब करौं दण्डवत पूजौं और न देवा॥
कहौं सो नाम सुनौं सो सुमिरन खावौं पिवौं सो पूजा।
गिरह उजाड़ एक सम लेखौं भाव मिटावौं दूजा॥
आँख न मूदौं कान न रूधौं तनिक कष्ट नहि धारौं।
खुले नैन पहिचानौं हँसि हँसि सुन्दर रूप निहारौं॥
सबद निरंतर से मन लागा मलिन वासना त्यागी।
उठत-बैठत कबहुँ नहि छूटै ऐसी तारी लागी॥
कह कबीरु यह उन मुनि रहनी सो परगट करि गाई।
दुख-सुख से कोइ परे परमपद तेहि पद रहा समाई॥

संतों की चेतावनी

किसी वस्तु अथवा व्यक्ति से सचेत अथवा सतर्क रहने का आदेश या उपदेश चेतावनी है। सन्तों का काव्य चेतावनियों से भरा पड़ा है। उन्होंने बारम्बार कुछ विशेष वस्तुओं और व्यक्तियों से दूर रहने एवं उनसे सतर्क रहने का उपदेश दिया है। इन चेतावनियों के अन्तर्गत उन्होंने संसार की निःसारता एवं क्षणभंगुरता तथा माया के कपट रूप को व्यक्त करने के लिये प्रयत्न किया है। चेतावनी में उपदेश की अपेक्षा सतर्क रहने की भावना पर अधिक जोर रहता है। उपदेश के अन्तर्गत कोई भी भाव सीधे एवं प्रभावशाली शैली में अभिव्यक्त हो सकता है। परन्तु चेतावनी में वर्ण्य विषय का दोष और उसका घातक प्रभाव अत्यन्त प्रभावशाली शब्दों में अभिव्यंजित होता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से विचार करने पर भी यह स्पष्ट है कि उपदेश की अपेक्षा चेतावनी का पाठक एवं श्रोता पर विशेष प्रभाव पड़ना स्वाभाविक एवं सम्भावित है। कदाचित इसी प्रकार से प्रायः सभी सन्तों ने चेतावनी के द्वारा जनता को वर्जित वस्तुओं के दोष निदर्शन का प्रयत्न किया है।

चेतावनी लिखने की परम्परा हिन्दी साहित्य में बड़ी प्राचीन है। सरह पा (७६० ई०) ने पाखण्ड खंडन और वाह्याडम्बर की आलोचना करते हुए इनसे दूर रहने के लिए अनेक बार

चेतावनी दी है । इसी प्रकार स्वयंभू के (७९० ई०) काव्य में संसार की तुच्छता, सांसारिक बन्धनों एवं सम्बन्धों की अनस्थिरता सामाजिक भेद भाव और विषयों के आधार पर चेतावनी मिलती है। 'कोई किसी का नहीं' शीर्षक से स्वयंभू की चेतावनी के कतिपय अंश यहाँ उद्धृत किये जाते हैं:—

जगे जीवहँ नाहिं सहाय कोऊ, रति बाँधै मोहबशहिं तऊ ।
एंहु घर एंहु परिजन एंहु कलत्र, ना बूझै जिमि सक लेहि चित्र ॥
एंक लेहि कानि बउ विधुर काले, एंक लेहि सोंई वहु जाठ काले ।
एंक लेहि बसीवउ तहं वियोगें, एक लेहि रोइव्वइ प्रिय वियोगे ॥[1]

दसवीं शताब्दी के देवसेन और तिलोपा आदि कवियों ने भी तीर्थ, देवसेवा, वाह्याचारादि की व्यर्थता व्यक्त करते हुए इन निःसार वस्तुओं से अलग रहने की चेतावनी दी थी।[2] उपर्युक्त इन कवियों की भाँति ही पुष्पदन्त,[3] योगीन्दु,[4] मुनिराम सिंह[5] ने भी भाँति-भाँति की चेतावनी लिखी। इन कवियों की चेतावनी रोचक एवं पठनीय है। मानव मस्तिष्क को तर्क एवं उदाहरणों के द्वारा प्रभावित करने के प्रयत्न में ये किस प्रकार सफल हुए हैं यह विचारणीय विषय है। चेतावनी लिखने की यह परम्परा और भी आगे जारी रही। आगे चलकर गोरखनाथ के साहित्य में बड़ी सुन्दर चेतावनी उपलब्ध होती है। उदाहरणार्थ गोरखनाथ के काव्य से दो चेतावनी यहाँ उद्धृत की जाती हैं :—

---

१ हिन्दी काव्य धारा—राहुलसांकृत्यायन पृ० १३१
२ हिन्दी काव्यधारा—राहुल सांकृत्यायन—पृ० २३६
३ हिन्दी काव्यधारा—राहुल सांकृत्यायन—पृ० २३६
४ हिन्दी काव्यधारा—राहुल सांकृत्यायन—पृ० २४८
५ हिन्दी काव्यधारा—राहुल सांकृत्यायन—पृ० २५४

(क) चांमैं चांम धंसता लोई ।
दिन दिन छीजै काया ॥
आपा परचै गुर मुषिन चीन्है ।
फाड़ि फाड़ि वाघणी षाया ॥[1]

(ख) वाघिनी उपाया वाघिनी निपाया ।
वाघिनी पाली काया ॥
वाघिनी डकारै जोरियो ।
पाषर अनभुई गोरष राया ॥[2]

नाथ कवियों के अनंतर अन्य प्रवृत्तियों के साथ ही चेतावनी रचना की प्रवृत्ति भी संतों में उपलब्ध होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि चेतावनी रचना की प्रवृत्ति परम्परागत है। इस परम्परागत प्रवृत्ति की एक विशेषता है वह यह कि कवियों ने कनक-कामिनी तथा संसार की अनित्यता को ही अपनी चेतावनी का विषय बनाया है। इसी सीमित क्षेत्र को लक्ष्य बनाकर उन्होंने बारम्बार अपने विचारों को जनता के समक्ष प्रस्तुत किया है। परन्तु कबीर और उनके पश्चात होनेवाले अन्य कवियों द्वारा विरचित चेतावनी का आधार एवं विषय परम्परागत विषयों के अतिरिक्त स्वानुभूत विषय भी है।

हिंदी के संत-कवियों की चेतावनी का वर्ण्य-विषय दो कोटि में विभाजित किया जा सकता है :—

(१) आध्यात्मिक विषय।

(२) सामाजिक विषय।

सामाजिक विषय को देखने से ज्ञात होता है कि इस विषय के भी दो भेद हो सकते हैं—प्रथम क्रियात्मक और द्वितीय

१ गोरखवाणी—डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल—पृ० १४४

२ गोरखवाणी—डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल—पृ० १४४

ध्वंसात्मक। आध्यात्मिक पक्ष के अंतर्गत कवियों ने ध्वंसात्मक पक्ष को ही लिया है। आध्यात्मिक (ध्वंसात्मक) पक्ष के अंतर्गत कवियों ने भेष, कुसंग, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मान, अहं, कपट, आशा, तृष्णा, माया, कनक, कामिनी, मांसाहार, तीर्थ, तप, नशा, संसार की क्षण भंगुरता, अनित्यता, धन का अभिशाप, वाह्याडम्बर की निःसारता आदि विषयों को संतों ने आध्यात्मिक चेतावनी में लिया है। इसके पश्चात सामाजिक विषय है। इसका ध्वंसात्मक पक्ष क्रियात्मक पक्ष की अपेक्षा अधिक प्रबल है। इसके अंतर्गत भेदभाव, बलिदान, तंत्र-मंत्र, स्वार्थ, ऐश्वर्याकांक्षा आदि विषयों को प्रधानता दी गई है जिनकी निंदा इन कवियों ने बारम्बार की है। उन्होंने इन सभी विषयों के मलीन पक्ष को समक्ष प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। इसके क्रियात्मक पक्ष के अंतर्गत उपलब्ध चेतावनी में अभिव्यक्ति की शिथिलता दिखाई देती है। सुन्दरदास इन कवियों में अपवाद नहीं हैं। उनके काव्य साहित्य में भी यही दो प्रकार की चेतावनी प्राप्त होती हैं। इस दृष्टिकोण से भी उनके साहित्य में महान् सन्तों (कबीर, दादू आदि) के द्वारा स्थापित परम्परा का पालन हुआ है।

उपदेश चेतावनी के अंतर्गत संत कवियों ने निम्नलिखित विषयों पर चेतावनियों की रचना की है:—

१. मानव शरीर क्षणभंगुर है।

२. मानव शरीर का सौंदर्य और रमणीयता क्षणिक एवं विनाशशील है।

३. मानव व्यर्थ ही माया और तज्जनित प्रपञ्चों में लिप्त है।

४. मानव शरीर दुर्लभ है।

५. समस्त बंधन एवं सामाजिक सम्बन्ध निःसार हैं।
६. अभिमान का जनक अज्ञान है।
७. काम, क्रोध, मोह, मद, अहंकार मानव के पंच महा शत्रु हैं।
८. सुरंगी देह का रहस्य अस्थि पंजर एवं कंकाल है
९. माया भयानक डायन है।
१०. संसार सरांय के समान है।
११. अवसर बीतने पर पश्चाताप ही रह जायगा।
१२. मानव जन्म देवताओं द्वारा स्पृहणीय है।
१३. सुख, ऐश्वर्य और सम्पत्ति की वास्तविक स्थिति निराधार है।
१४. संसार मृठा स्वप्नवत एवं जल के बुलबुले के सदृश्य है।

इसी प्रकार 'काल चितावनी' शीर्षक में संत कवियों ने अपने विचारों को प्रकट किया है:—

१. मनुष्य अज्ञान के कारण माया में संलग्न है।
२. शरीर रूपी दीपक की बाती बुझ जाने पर सब सम्बन्धी घृणा करने लगेंगे।
३. काल अचानक ही इस शरीर को अपना ग्रास बना लेगा।
४. काल बाज की भाँति शिकार की ताक में बैठा है।
५. काल के लिए सभी समान है।
६. काल का पंजा सदैव सर पर है।
७. काल महाबली है।
८. काल ही अभिमान को नष्ट कर देगा।
९. संसार के सम्बन्ध सब स्वार्थपूर्ण हैं।
१०. संघर्ष, अनीति, अकांड तांडव का अन्त दुखदायी है।

११. ब्रह्म को भूलने पर ही मानव काल का ग्रास बन गया है।

१२. ब्रह्म ही काल से रक्षक है।

१३. समस्त ब्रह्मांड काल से पीड़ित है।

१४. जगत मिथ्या है।

१६. मन की कल्पना ही काल है।

१७. संकल्प विकल्प ही जगत की स्थिति का रहस्य है।

इस सम्पूर्ण प्रसंग में कवियों ने जो कुछ लिखा है उसका सार तत्व यह है कि मनुष्य ब्रह्म को बिसर कर माया में इतना संलग्न हो गया है कि उसे और कुछ ध्यान में नहीं आता है। यह उसके लिए घातक है, विनाशकारी है।

सुन्दरदास के अनुसार मानव देह दुर्लभ और देवताओं द्वारा स्पृहणीय है। इसे पाकर मानव को आवागमन से मुक्ति पाने के लिए प्रयत्न करना ही सर्व श्रेष्ठ कर्तव्य है। इस शरीर के छूट जाने पर फिर ऐसा अवसर पुनः नहीं प्राप्त होगा।[1]

---

१ कांन के गये तें कहाँ काँन ऐसौ होत मूढ़।
नैंन के गये ते कहाँ नैन ऐसै पाइहै॥
नासिका गये तें कहाँ नासिका सुगन्ध लेत।
मुख के गये तें कहाँ मुख ऐसै गाइ है॥
हाथ के गये तें कहाँ हाथ ऐसौ काम होत।
पांव के गये तें ऐसै पांव कत धाइहै॥
यांहो तें विचार देषि सुन्दर कहत तोहि।
देह के गये तें ऐसी देह नहीं आइहै॥

ममता और माया के बन्धन दुखद और वीभत्स है।[१] माया चंचल और चपल है। वह न किसी की हुई है और न होगी।[२] काम क्रोधादि सब ठग हैं और संसार ठगों की नगरी है।[३] इस

---

१ बार-बार कह्यौं तोहि सावधान क्यौं न होहि।
ममता की मोट सिर काहे कौं धरतु है॥
मेरौ धन मेरौ धांम मेरे सुत मेरी बांम।
मेरे पशु मेरो ग्राम भूलौ यौं फिरतु है॥
तूं तौ भयौ बावरौ बिकाइ गई बुद्धि तेरी।
ऐसौ अन्धकूप गृह तामें तू परतु है॥
सुन्दर कहत तोहि नैक हूँ न आवै लाज।
काज कौ बिगारि कै अकाज क्यौं करतु है॥

२ बारू कै मंदिर मांहि बैठि रह्यौ थिर होइ।
राषत है जीवने की आसा कैऊ दिन की॥
पल-पल छीजत घटत जात घरी-घरी।
बिनसत बार कहा षवरि न छिन की॥
करत उपाइ झूठै लैन दैन षांन पान।
मूसा इत उत फिरै ताकि रही मिनकी॥
सुन्दर कहत मेरी-मेरी करि भूलौ शठ।
चंचल चपल माया भई किन किन की॥

३ श्रवनूं लै जाइ करि नाद कीलै डारै पासि।
नैनवा लै जाइ करि रूप बसि कर्‌यौ है॥
नथुवा लै जाइ करि बहुत सुघावै फूल।
रसनूं लै जाइ स्वाद मन हर्‌यो है॥
चंरनू लै जाइ करि नारी सौं सपर्श करै।
सुन्दर कोउक साध ठगनि तैं डर्‌यौ है॥
काम ठग क्रोध ठग लोभ ठग मोह ठग।
ठगनि की नगरी मैं जीव आय पर्‌यो है॥

इस सुरंगी देह का रहस्य अत्यन्त कष्ट प्रद और दुखद है।[१] मानव अत्यन्त शिथिलता को प्राप्त हो जाता है, हाथ पैर कंपने लगते हैं, शरीर विकृत हो जाता है, इन्द्रिय निर्बल हो जाती हैं पर आशा और तृष्णा उसका साथ नहीं छोड़ती हैं। इस दुर्दशा में भी वह ब्रह्म का ध्यान करने के लिए अवकाश नहीं पाता है। वह नित्य ही माया के बन्धनों में उलझता रहता है।[२]

सन्तों ने कनक-कामिनी के प्रति जनता को सबसे अधिक सचेत करने का प्रयत्न किया है। उसी सीमित क्षेत्र को लक्ष्य बनाकर उन्होंने बारम्बार अपने विचार प्रकट किये हैं।

---

१ जोबन कौ गयो राज और सब भयौ साज।
आपुनि दुहाई फेरि दमामौ बजायौ है॥
लकुटी हथ्यार लिये नैननि की ढाल दीये।
सेत बार भये ताकौ तंबू सौ तनायौ है॥
दसन गये सु मानौ दरबान दूरि किये।
जौगंरी परी सु औरै बिछौना बिछायो है॥
सीस कर कंपत सु सुन्दर निकारयौ रिपु।
देषत ही देषत बुढ़ापा दौरि आयौ है॥

२ घींच तुचा कटि है लटकी कचऊ पलटे अजहूँ रत बांमो।
दंत भया मुख के उषरे नषरे न गये सुषरौ षर कांमो॥
कंपति देह सनेह सु दंपति संपति जंपति है निश जांमो।
सुन्दर अंतहु मौन तज्यौ न भज्यौ भगवंत सुलौन हंरामी॥
पाई अमोलक देह इहै नर क्यों न विचार करै दिल अन्दर।
कामहु क्रोधहु लोभहु मोहहु लूटत है दसहूं दिसि द्वन्दर॥
तू अब बंदत है सुरलोकहि कालहु पाइ परै सु पुरंदर।
छाडि कुबुद्धि सुबुद्धि हृदै धरि आतम राम भजै किन सुन्दर॥

परन्तु कबीर और उनके पश्चात् होने वाले अन्य कवियों द्वारा लिखित चेतावनी के आधार परम्परागत विषयों के अतिरिक्त स्वानुभूत विषय भी हैं। उदाहरणार्थः—

(क) *आछे दिन पाछे गए गुरु से किया न हेत।*
अब पछतावा क्या करै चिड़िया चुग गई खेत॥
(क० ब० ४०—४०१)

(ख) *मैं भँवरा तोहि बरजिया बन बन बास न लेय।*
अटकैगा कहुँ बेल से तड़पि तड़पि जिय देय॥
(क० ब० ४०—४२३)

इसी दृष्टि से दादू की एक चेतावनी पठनीय है:—

आपा पर सब दूरि करि राम नाम रसि लागि।
दादू औसर जात है जागि सके तो जागि॥
(स० बा० स० भाग १ पृ० ६६)

मलूकदास की स्वानुभूति के आधार पर रचित चेतावनी निम्नलिखित है:—

देही तोय न आपुनी समुझि परी है मोहिं।
अबहीं ते तजि राख तूँ आखिर तजिहै तोहिं॥
(स० बा० सं० भाग १ पृ० १०१)

स्वानुभूत चेतावनियों में सर्वथा नवीनता और मौलिकता प्राप्त होती है। सुन्दरदास की स्वानुभूत चेतावनियों में से कतिपय यहाँ उद्धृत की जाती हैं:—

सुन्दर पक्षी वृक्ष पर लियौ बसेरा आनि ।
राति रहे दिन उठि गये त्यौं कुटुम्ब सब जानि ॥
सुन्दर नदी प्रवाह मैं मिल्यौ काठ संजोग ।
आपु आपु कौं ह्वै गए त्यौं कुटुम्ब सब लोग ॥
सुन्दर यह औसर भलौ भजि लै सिरजनहार ।
जैसे तातें लोह कौं लेत मिलाइ लुहार ॥
सुन्दर सूवा पींजरै केलि करै दिन राति ।
मिनकी जानै षांव कब ताकि रही इहि भाँति ॥

सन्त कवियों ने कल्पना, अन्योक्ति, रूपक तथा उपमा के द्वारा अपनी चेतावनियों को अधिक स्पष्ट और प्रभावशाली बनाया है। यह विशेषता कबीर में अधिक है। साधारण से साधारण विषयों को कवियों ने इन साधनों से रोचक, प्रभावशाली और आकर्षक बना दिया है। कबीर की चेतावनी एवं अन्योक्तियों के भाव प्राचीन होते हुए भी नवीन प्रतीत होते हैं:—

(क) चलती चक्की देखि के दिया कबीरा रोय ।
दुइ पट भीतर आइके साबित गया न कोय ॥
(क० ब० ४३—४३०)

(ख) पानी केरा बुदबुदा अस मानुष की जात ।
देखत ही छिप जायगा ज्यों तारा परभात ॥

(ग) सेमर सुवना सेइया दुइ ढेढ़ी की आस ।
ढेढ़ी फूटि चटाख दे सुवना चला निरास ॥
(क० ब० ४३/४३१)

(घ) माली आवत देखि के कलियन करी पुकार ।
फूली फूली चुनि लिये काल्हि हमारी वार ॥
(क० ब० ४३/४३४)

इसी प्रकार प्राचीन भावों को अभिनव भाषा, नवीन शैली, नवीन शब्दों में व्यक्त करने में सुन्दरदास भी सिद्धहस्त प्रतीत होते हैं। उदाहरणार्थ कतिपय साखियाँ यहाँ उद्धृत की जाती हैं:—

१ दीया की बतियाँ कहैं दीया किया न जाइ ।
दीया करै सनेह करि दीये ज्योंति दिषाइ ॥

२ सुन्दर तेरी मति गई समुझत नहीं लगार ।
कूकर रथ नीचै चलै हूँ पैंचत हौं भार ॥

३ सुन्दर पक्षी वृक्ष पर लियौ बसेरा आनि ।
राति रहे दिन उठि गये त्यौं कुटुम्ब सब जानि ॥

४ सुन्दर मनुषा देह धरि भज्यौ नहीं भगवंत ।
तौ पशु ज्यौं पूरै उदर शूकर स्वान अनंत ॥

५ सुन्दर अब तेरी पुसी बाजी जीति कि हारि ।
चौपड़ि कौ सौ षेल है मनुषा देह बिचारि ॥

इसी प्रकार उपमाओं, रूपकों के द्वारा मलूकदास,[१] दरिया साहब (बिहार वाले),[२] दूलनदास,[३] सहजोबाई,[४] दयाबाई,[५] जगजीवन साहब[६] आदि कवियों ने अपनी चेतावनियों को रोचक एवं प्रभावशाली बनाने का प्रयत्न किया है।

सन्तों ने दो प्रकार के व्यक्तियों को लक्ष्य करके अपनी चेतावनी की रचना की है। सर्व प्रथम उन्होंने बहुजन हिताय संसार को सम्बोधित करके लिखी है। इस प्रकार की चेतावनी प्रायः अधिक संख्या में लिखी गई हैं। दूसरे उन्होंने आत्म उद्बोधन के हेतु चेतावनी लिखी है। दूसरी कोटि की चेतावनियों में भी आत्मा को ही सम्बोधित किया गया है।

———

१ इस जीने का गर्व क्या कहा देह की प्रीति।
बात कहत ढह जात है बारू की सी भीति॥ (सं० बा० सं० १ पृ० १०१)

२ मातु पिता सुत बंधवा सब मिलि करैं पुकार।
अकेल हंस चलि जातु है कोई नहिं संग तुम्हार॥
(सं० बा० सं० १ पृ० १२०)

३ दूलन यह परिवार सब नदी नाँव संजोग।
उतरि परे जह तहँ चले सबै बटाऊ लोग॥
(सं० बा० सं० १ पृ० १३६)

४ सहजो नौबत स्वास की बाजत है दिन रैन।
मूरख सोवत है महा चेतन कूँ नहिं चैन॥
(सं० बा० सं० १ पृ० १५७)

५ बिनसत बादर बात बसि नभ में नाना भाँति।
इमि ना दीसत काल बसि तऊ न उपजै साँति॥
(सं० बा० सं० १ पृ० १७१)

६ सं० बा० सं० भाग २ पृ० १३०-१३२

सन्तों के सूरमा

कोष के अनुसार 'सूरमा' का अर्थ 'योद्धा' अथवा 'वीर' होता है। 'सूरमा'—शब्द का प्रयोग सामान्यरूप से 'वीर' के अर्थ में ही किया जाता है और वही व्यक्ति वीर है जो युद्ध अथवा अन्य क्षेत्रों में अपने प्रतिस्पर्द्धी अथवा शत्रु का सामना साहस एवं धैर्य पूर्वक कर सके। हमारे साहित्य के सन्त कवियों ने भी 'सूरमा' शब्द का प्रयोग योद्धा या वीर के अर्थ में ही किया है परन्तु सन्तों का संसार इस सामान्य संसार से भिन्न था, उनका संसार इस संसार से परे था। संतों के संसार में सूरमा वही व्यक्ति है जो माया और उसके सहायकों से वीरता और धीरता पूर्वक युद्ध कर सके और उन पर विजय प्राप्त कर सके, जो अपनी साधना शक्ति के द्वारा प्रलोभनों का परित्याग कर सके, जो वासनाओं का दमन कर सके, जो दुर्बलताओं पर विजय प्राप्त कर सके और जो विकारों को समाप्त कर उन पर आध्यात्मिकता का भवन खड़ा कर सके, जिसमें परब्रह्म का निवास हो सके। सन्तों के साहित्य में अनेक ऐसे शब्द हैं जिनका कवियों ने प्रचलित रूप से भिन्न अर्थ में

प्रयोग किया है।[१] ऐसे ही सूरमाओं के लिए संस्कृत के धर्म-ग्रंथों में 'धीर' कहा गया है।[२] सन्तों के इन सूरमाओं का युद्ध अविद्या माया और उसके सहायकों से होता है। इन सूरमाओं के लक्षण अस्त्र-शस्त्र, कवच, रहन-सहनादि का सन्त कवियों ने बड़ा रोचक और सुन्दर वर्णन किया है। सुन्दरदास ने भी 'सूरमा' या 'सूर' शब्द का प्रयोग उपर्युक्त अर्थ में ही किया है।

सुन्दरदास न 'सुन्दर विलास' ग्रन्थ में 'अथ सूरातन को अंग' शीर्षक के अन्तर्गत प्रस्तुत विषय का विवेचन उन्नीस छन्दों में किया है और स्फुट साखी साहित्य में इस विषय पर पचीस साखियों की रचना की है। इस प्रकार कवि ने सूरमा वा सूर विषय पर चवालीस छन्दों की रचना की है। हिन्दी के अन्य सन्त कवियों में 'सूरमा' पर विचार प्रकट करने वालों में कबीर,[३] दादू,[४] नानक,[५] दरिया साहब (बिहार वाले),[६]

---

१ उदाहरणार्थ सन्तों ने आत्मा को दुलहिन, परमात्मा का पति, स्वास को ऊँट, अंतःकरण को कुआ, गुरु को हंस, देह को दीपक, प्रेम को तैल, मन को शैतान, संसार को वन, ब्रह्मरन्ध्र को त्रिवेणी कहा है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी-साहित्याचार्य के 'कबीर' और डा० बड़थ्वाल की 'निर्गुण स्कूल आव हिन्दी पोयट्री' में ऐसे अनेक शब्दों के अर्थ दिये गये हैं:—

२ कांता कटाक्ष निशिख न गृणन्ति यस्य,
चित्त न निर्दहति कोप कृशानु तापः ।
कर्षति भूरि विषया न च लोभ पाशैः,
लोकत्रंय जयति कृत्स्नयिदं स धीरः ॥

३ संत बानी संग्रह भाग १ पृ० ३७

४ संत बानी संग्रह भाग १ पृ० ६०

५ संत बानी संग्रह भाग १ पृ० ६६

६ संत बानी संग्रह भाग १ पृ० १२४

दरिया साहब (मारवाड़ वाले),[१] दयाबाई,[२] पलटू साहब,[३] और मलूकदास,[४] विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

सन्त मत के उज्ज्वल रत्न कबीर ने सूरमा की परिभाषा बड़े ही स्पष्ट और अल्प शब्दों में व्यक्त की है। कबीर के अनुसार तीर तलवार और बन्दूक हाथ में लेकर युद्ध करने वाला व्यक्ति सूरमा नहीं है। वास्तविक सूरमा तो वह व्यक्ति है जो माया का परित्याग कर दे। सूरमा लड़ाई के हथियार ढाल, तलवार आदि नहीं धारण करता वह स्वयं खुलकर युद्ध करता है। मायादि शत्रुओं का सामना वह वीरता पूर्वक करता है। समस्त बन्धनों का परित्याग करके सूरमा युद्ध स्थल में उतरा है। कबीर के शब्दों में.....

तीर तुपक से जो लड़ै सो तो सूर न होय।
माया तजि भक्ती करै सूर कहावै सोय॥
सूर सिलाह न पहिरई जब रन बाजा तूर।
माथा काटै धड़ लड़ै तब जानिये सूर॥
सूरा सोई सराहिये अंग न पहिरै लोह।
जूझै सब बंद खोलिकै छाड़ै तन का मोह॥

कबीर के तात्पर्य को नानक ने और भी सरल शब्दों में अंकित कर दिया है। नानक के अनुसार दलों के साथ युद्ध

---

१ संत बानी संग्रह भाग १ पृ० १२६
२ संत बानी संग्रह भाग १ पृ० १७८
३ संत बानी संग्रह भाग १ पृ० २१५
४ मलूकदास की बानी बेलवीडियर प्रेस प्रयाग

करने के हेतु गया हुआ व्यक्ति सूरमा नहीं है। सूरमा तो वही व्यक्ति है जिसके हृदय में हरि का निवास है:—

सूरा एह न आखियन जो लडनि दलाँ में जाय।
सूरे सोई नानका जो मंनणु हुकम रजाय॥
हिरदे जिनके हरि बसै से जन कहियहि सूर।
कही न जाई नानक पूरि रह्या भरपूर॥

दरिया साहब (मारवाड़ वाले) के शब्दों में वही व्यक्ति सूरमा है जो शब्द वाण का 'घाव' सहन करे। कारण कि शब्द वाण के लगते ही इन्द्रियाँ स्वकर्म विसर जाती हैं। आत्म विस्मृति की दशा में उसे अपना ध्यान नहीं रह जाता है। सूरमा सिंहों की भाँति वीर और शक्तिशाली होते हैं। सूरमा सिंहों की भाँति एकांत में और एकाकी विचरते हैं, समुदाय बनाकर नहीं चलते हैं। फौज में सभी सूरमा नहीं होते। हजारों के समुदाय में कहीं एक व्यक्ति सूरमा होता है। अपनी देह को तपस्या, साधना, कष्ट सहन के द्वारा चकनाचूर एवं नष्ट कर देने वाला व्यक्ति सूरमा नहीं है। काया को कष्ट न देकर भी माया, विकार, एवं दुर्बलताओं का दमन करके, आध्यात्मिक पथ पर अग्रसर होने वाला साधक ही वास्तविक सूरमा है।[1] चरनदास ने सूरमा की बड़ी विस्तृत परिभाषा और दृष्टांतों का

---

१ दरिया सूरा गुरमुखी सहै सबद का घाव।
लागत ही सुधि बीसरै भूलै आन सुभाव॥
सबहि कटक सूरा नहीं कटक माहिं कोइ सूर।
दरिया पड़ै पतंग ज्यौं तब बाजै रन तूर॥
दरिया सों सूरा नहीं जिन देह करी चक चूर।
उनका जीति खड़ा रहै मैं बलिहारी सूर॥

उल्लेख किया है।[1] चरनदास ने भी भक्ति के क्षेत्र में अचल खड़े रह कर प्राणों का उत्सर्ग कर देने वाले को ही वास्तविक सूरमा माना है।[2] सुन्दरदास जी ने 'सुन्दरविलास' ग्रन्थ में सूरमा की बड़ी प्रशंसा की है। उनके अनुसार वही सूरमा है, 'जो शब्द नगाड़े को सुनते ही उल्लास से युक्त हो जाता है और जिसका मुख शब्द नगाड़े को सुनते ही उल्लास से दीप्त हो उठता है। शब्द नगाड़े को सुनते ही जब वह अपने आध्यात्मिक अस्त्र शस्त्रों को ग्रहण करके युद्ध स्थल में अवतरित होता है उस समय कायर शत्रु उसे देखकर विकम्पित हो उठते हैं जिस प्रकार पतंग ज्योति को देखकर उसी पर स्व-प्राणों को उत्सर्ग कर देता है उसी प्रकार सूरमा वीरों को देखकर प्रोत्साहित और उल्लसित होकर उन पर टूट पड़ता है। वास्तविक सूरमा वही व्यक्ति है जो शत्रुओं (इन्द्रियादिक तथा माया के सहायकों) से युद्ध में विजयी होकर पर ब्रह्म में अनुरक्त और संलग्न बना रहे:—

सुणत नगारै चोट विगसै कंवल मुख,
अधिक उछाह फूल्यौ म इ हूँ न तन मैं।
फिरै जब सांगि तब कोऊ नहि धीर धरै,
काइर कंपाइमान होत देषि मन मैं॥
टूटिकै पतंग जैसे परत पावक मांहि,
ऐसै टूटि परै बहु सांवत के गन मैं।
मारि घमसांण करि सुन्दर जुहारै स्याम,
सोई सूर बीर रुपि रहै जाइ रन मैं॥

---

१ देखिये चरनदास की बानी पृ० ६२-६३

२ सोई जन सूर जो खेत मैं माडि रहै। भक्ति मैदान में रहै ठाढ़ा।
सकल लज्जा तजै महा निरभय गजै। पैज नीसान जिन आय गाढ़ा॥

असन बसन बहू भूषन सकल अंग,
सम्पति बिबिधि भाँति भरयौ सब घर है।
श्रवन नगारौ सुनि छिनक मैं छोड़ि जात,
ऐसैं नहिं जानै कछु आगैं मोहि मर है॥
मन मैं उछाह रन मांहि टूक टूक होइ,
निरभै निसंक वाके रंच हूँ न डर है।
सुन्दर कहत कोऊ देह कौ ममत्व नांहि,
सूरमा कै देखियत सीस बिन धर है॥

सूरमा की शक्ति, साहस और महत्व को भी सन्तों ने बड़े ही उचित और सुन्दर शब्दों में अंकित किया है। सूरमा की शक्ति बड़ी महान और दिव्य है। युद्ध कौशल में पारंगत, शूरता में प्रख्यात, साहस में अद्वितीय, वीरों में अग्रगामी, उत्साह में आदर्श व्यक्ति भी जिन शत्रुओं से पराजित हो जाते उन्हें, परास्त करने वाले हैं सन्तों के सूरमा। सूरमा संसार रूपी युद्ध क्षेत्र में अकेले अपनी शक्ति और व्यक्तित्व पर भरोसा करके शत्रु की सेना का संहार करता हुआ अग्रसर होता है। वह अपने बल से, अपनी आंतरिक शक्ति से अविद्या या असत्य माया का दमन करता है। इन्द्रिय रूपी शत्रुओं को बलशाली बनने से रोकने वाला वही संतों का सूरमा है। कंचन कामिनी आदि प्रलोभनों को वह अपने मार्ग से हटाता चलता है।[1] क्षमा रूपी ढाल, उदारता का अस्त्र,[2] सुरत तीर, हृदय तरकस,[3] प्रेम रूपी

---

१ चरणदास की बानी पृ० ८५
२ चरणदास की बानी पृ० ८६
३ चरणदास की बानी पृ० ८६

साधन का उपयोग करता हुआ वह शत्रुओं का हनन करता है। वह बुद्धि की कटारी तथा वचन विलास की बरछी से युद्ध क्षेत्र में उपस्थित संकटों का सामना करता है।[1] सुन्दरदास के मत से सूरमा बड़े शक्तिवान होते हैं। सूरमा की शक्तिसत्ता के आगे काल तक अपने को निर्बल पाता है। उसीने ज्ञान की बाण लगाकर महाबलवान् मन का हनन किया है। उसने कितने ही बलवान् शत्रुओं का सामना किया है। उसके समक्ष संघर्ष में अरिदल भी न ठहर पाया। सूरमा के सदृश्य वीर संसार में अन्य कोई नहीं है:—

पैंचि करडी कमांण ज्ञान कौ लगायौ बांण
मार्‌यौ महाबली मन जग जिनि रान्यौ है।
ताकै अगि बांणी पंच जोधा ऊ कतल कीये
और रह्यौ पह्यौ सब अरिदल भान्यौ है॥
ऐसौ कोऊ सुभट जगत मैं न देखियत
जाकै आगै कालहू सौ कंपि कै परान्यौ है।
सुन्दर कहत ताकी शोभा तिहूँ लोक मांहिं
साधु सौ न सूरबीर कोऊ हम जान्यौ है॥

काम, क्रोध, मद, मोह और लोभ मनुष्य के बड़े ही प्रबल शत्रु हैं। इन शत्रुओं ने समस्त संसार को पराजित कर रखा है। ऋषि, मुनि, साधक, सिद्धादि भी इन से पराजित हुए हैं परन्तु सूरमा इतना शक्तिशाली है कि उसने काम, क्रोधादि शत्रुओं को भी हरा दिया है:—

---

१ चरणदास की बानी पृ० ८६

काम-सौ प्रबल महाजीते जिनि तीनौं लोक
सुतौ एक साधु कै विचार आगैं हारयौ है ।
क्रोध सौं कराल जाके देखत न धीर धरै
सोउ साधु क्षमा कै हथ्यार सौं बिदार्‌यौ है ॥
लोभ सौं सुभट साधु तोष सौं गिराइ दियौ
मोह सौं नृपति साधु ज्ञान सौं प्रहार्‌यौ है ।
सुन्दर कहत ऐसौ साधु कोऊ सूरबीर
ताकि ताकि सबहि पिशुन दल मार्‌यौ है ॥

सूरमा वीरता के लिए आदर्श है। वह कथनी में नहीं वरन् करनी में विश्वास रखता है। टूक टूक होकर गिर पड़ने पर भी वह आत्म विज्ञापन में विश्वास नहीं करता है:—

सुन्दर सूर न गासण डाकि पड़ै रण मांहिं ।
घाव सहै मुख सांमहां पीठि फिरावै ॥
मुख तैं बैंण न उच्चरै सुन्दर सूर सुजांण ।
टूक टूक जब ह्वै पडै सबकौ करै बषांण ॥
सुन्दर तन मन आपनौ आवै प्रभु कै काम ।
रण मैं तै भाजै नहीं करै न लौंन हराम ॥

मोह और उसके साथी अन्य शत्रुओं को मारने की शक्ति भला सूरमा के अतिरिक्त और किस व्यक्ति में हो सकती है।[1] युद्ध का वाद्य बजने पर सूर तोप तलवार आदि हथियारों को नहीं धारण करता है। कबीर के शब्दों में मस्तक विच्छिन्न हो

---

१ चरनदास की बानी पृ० ८५

जाने पर भी शक्तिवान सूरमा का धड़ युद्ध में प्रवृत्त रहता है।[१] कवियित्री दयाबाई के शब्दों में सूरमा अपने अस्तित्व का मोह त्याग करके शत्रुओं को नष्ट करने के लिए अग्रसर होता है और मोह के महान् दल को नष्ट करके वह 'सत्य' में संलग्न होता है।[२] युद्ध में प्रवृत्त होने पर वह जीवन के लोभ का परित्याग कर देता है।[३] सूरमा दृढ़ प्रतिज्ञ और कर्तव्य परायण होता है। सूरमा के दृढ़ प्रतिज्ञता की प्रशंसा सुन्दर दास ने भी भूरि-भूरि की है। सुन्दरदास ने उसे दृढ़ संकल्प और स्थिरमति आदि शब्दों से सम्बोधित किया है।[४] सूरमाओं वीरता और सत्य निष्ठा पर सभी सन्तकवियों को विश्वास रहा है। मारवाड़ वाले दरिया साहब[५] और सुन्दरदास की रचनाएँ इस कथन का समर्थन करती हैं। चरनदास सूरमाओं की इस प्रवृति के विषय में कुछ अधिक स्पष्ट प्रतीत होते है।[६] चरनदास सुन्दर

१ संत बानी संग्रह भाग १ पृ० ३६
२ संत बानी संग्रह भाग १ पृ० १७६
३ खेत न छाड़ै सूरमा जूझै दो दल माँहि।
आसा जीवन मरन की मन में आनै नाहिं ॥
४ हाथ लीये हथियार तीक्षण लगायो धार।
बार नहिं लागै सब पिशुन प्रहारि है ॥
वोट नाहिं राखै कछु लोट पोट होइ जाइ।
चोट नहिं चूकै सीस रिपु कौ उतारि है ॥
जूझिबे कौ चाव जाकै ताकि ताकि करै घाव।
आगै धरि पांव फिरि पीछै न संभारि है।
सुन्दर कहत ताहि नैकु नहिं सोंच पोंच।
ऐसौ सूर बीर धीर मीर जाइ मारि है ॥
५ संत बानी संग्रह—भाग १ पृ० १३०
६ या बाने को नेम यही है पग धरि फिर न उठावै।
जो कुछ होय सो आगेहि आगे आगेही को धावै।
रन में पैठि झड़ाझड़ि खेले सन्मुख सस्तर खावै।
खेत न छोड़ै बाँई जूझै तब ही सोभा पावै ॥

चरनदास की बानी पृ० ८७

दास एवं दरिया साहब (मारवाड़ वाले) की विचारधारा संत कवियत्री दयाबाई में पूर्ण रूप से लहरे ले रही है। दयाबाई के अनुसार:—

जो पग धरत से हठ धरत पग पाछे नहिं देत।
अहंकार कूँ मार करि राम रूप जस लेत।

(स० बा० स०—१९९/४)

सन्तों का यह सूरमा कोई अन्य व्यक्ति नहीं है वरन वह साधु ही है।[१] यही साधु ममत्व को नष्ट कर, अहम् भाव को समूल मिटा कर, इन्द्रियजित होकर, बंधनों एवं तापों से परे दुर्बलताओं पर विजयी होकर 'सूरमा' कहलाता है।[२]

---

१ कियौं जिनि मन हाथ इन्द्रिनि कौं सब साथ,
घेरि घेरि आपने ई नाथ सौं लगाये हैं।
और ऊ अनेक बैरी मारे सब युद्ध करि,
काम क्रोध लोभ मोह षोदि कै बहाये हैं।
किये हैं संग्राम जिनि दिये हैं भगाइ दल,
ऐसे महा सुभट सुग्रन्थनि मैं गाये हैं।
सुन्दर कहत और सूर यौं ही षपि गये,
साधु सूर वीर वैई जगत मैं आये हैं।

२ महामत्त हाथी मन राष्यौं है पकरि जिनि,
अति ही प्रचण्ड जामैं बहुत गुमान है।
काम क्रोध लोभ मोह बाँध्यौं चारों पाव पुनि,
छूटनै न पावै नैंक प्राण पीलवान है।
कबहूं जो करै जोर सावधान सांझ भोर,
सदा एक हाथ मैं अंकुश गुरु ज्ञान है।
सुन्दर कहत और काहू कै न बसि होइ,
ऐसौ कौन सूर वीर साधु के समान है।

संतों ने सूरमा के एक पृथक संसार की कल्पना की है। इस संसार में उसका निजी वातावरण है, उसके व्यक्तिगत साधन हैं, उसके अपने अस्त्र-शस्त्र हैं, उसके संसार में भिन्न वाहन हैं जिन पर सवार होकर वह युद्ध करता है। सूरमा का यह संसार सफलताओं का संसार है। उसमें अभाव नहीं है। उसे संसार में सभी मनोवांछित फल उपलब्ध होते हैं। कारण यह है कि वह कर्तव्य पालन करता है, धर्म पालन करता है और सत्य में विश्वास रखता है। वह क्षमा, दया, त्याग आदि सद्गुणों को ग्रहण करता है। सन्तों ने इन सूरमाओं के संसार को एक सुन्दर रूपक मान लिया है। कबीरदास के शब्दों में सूरमा की खड्ग ज्ञान है, घोड़ा प्रेम है, लव रूपी लगाम से वह घोड़े को संचालित करता है, प्रेम रूपी घोड़े की गति तीव्र करने के हेतु 'सबद' गुरु का 'ताजना' (कोड़ा) है।

कबीर घोड़ा प्रेम का चेतन चढ़ि असवार।
ज्ञान खड़ग लै काल सिर भली मचाई मार॥
चित चेतन ताजी करै लव की करै लगाम।
सबद गुरू का ताजना पहुँचै संत सुठाम॥

एक स्थान पर कबीर ने हरि घोड़ा, ब्रह्मा कड़ी, चन्द्र और सूर्य पायदान (रक़ाब) की कल्पना की है।[1] प्रायः सभी सन्तों ने सूरमाओं के 'सबद घाव' का उल्लेख किया है। दयाबाई ने सूरमाओं के ज्ञान को गुरज (सोंटा), शब्द को निसान माना है।[2] चरनदास ने क्षमा को ढाल, उदारता को शस्त्र, धर्म को

---

१ हरि घोड़ा ब्रह्मा कड़ी विसनू पीठ पलान।
चन्द सूर ह्वै पायडा चढ़तै सन्त सुजान॥

२ दयाबाई की बानी—पृ० ५/४-६

सहायक सैनिक, सुरत को तीर, हृदय को तरकस, बुद्धि को कटारी, बचन को बरछी, अनहद नाद को तूरा माना है।[१] पलटू साहब ने प्रेम को बख्तर, सुरति को कमान, गुरु ज्ञान को घोड़ा माना है।[२] सुन्दर दास ने अन्य संतों की ही भाँति सुरति बाण, शब्द नगाड़ा, पतंग-सामंत वीर, अनहद नाद शहनाई, श्रवण नगाड़ा, मायादि शत्रु, ज्ञान कवच, ताजी हरि, ज्ञान तरवाल, ज्ञान बाण, लोभ सुभट, महमत्त मन, आदि का उल्लेख बार-बार "अथ सूरा तन कौ अंग" शीर्षक के अंतर्गत किया है।

सूरमा के प्रधान गुणों में से सन्तोष, शील, सत्य आदि का कबीर ने उल्लेख किया है।[३] सुन्दर दास ने उसकी वीरता, धीरता, साहस, कर्मठता, सत्यनिष्ठा एवं दृढ़ संकल्प का उल्लेख किया है।[४] सामान्यतया सभी सन्तों ने उसकी शूरता का उल्लेख किया है।

सुंदरदास के मतानुसार सूरमा के प्रधान शत्रु काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद अहंकार, माया और उसके सहायक हैं। इन्हीं शत्रुओं से युद्ध करने में वह अपना जीवन व्यतीत करता है।

---

१ चरनदास की बानी—पृ० ८६ तथा—
स० वा० स० १, २१७ एवं ३७
२ स० वा० स० भाग १ पृ० २१६, २१७
३ स० वा० स० २ पृ० २७
४ सुन्दर ग्रन्थावली भाग २ पृ० ४८४-४९०

सन्तों की प्रेम साधना

मानव ने परम ज्योति परब्रह्म के दर्शन नहीं किए परन्तु उसके गुणगान की परंपरा प्राचीन—बड़ी ही प्राचीन है। सभ्यता एवं शिक्षा के प्रकाश-प्रसार के पूर्व, समाज की स्थापना से भी पूर्व के आदिम मानव को इस विश्व के संचालन में, एक ही पेड़ में विविध प्रकार के फूलों के फूलने में और विविध पेड़ों में एक ही रंग के पुष्पों के विकसित होने में, विद्युत प्रकाश, मेघों की गड़गड़ाहट में, चन्द्र, सूर्य के नियमित समय पर उदय और अस्त में, ऋतुओं के क्रमिक परिवर्तन में कसी दिव्य शक्ति का आभास मिला था। रीझ कर या खीझ कर, भय अथवा प्रेम के कारण त्रस्त हो या अनुरक्त हो कर मानव उस आदि कर्ता के गुणों का गान करने लगा। तब से आज तक उस शक्तिमत्ता के गुणगान की परम्परा चली आ रही है। संसार के सभी देशों के सभी धर्मों ने उसकी महत्ता के समक्ष मस्तक झुकाया, सभी वर्गों, सभी सम्प्रदायों ने श्लोकों की रचना की, सभी कालों में स्तवन रचनाएँ हुईं फिर भी मानव उसकी रूप रेखा न स्थापित कर सका। असफल मानव भला कब पराजय स्वीकार करने वाला था। अपनी बौद्धिक हीनता, और असमर्थता को छिपाने के लिए उसने सब कुछ वर्णन करने के पश्चात् भी 'नेति नेति' कह दिया। ठीक भी है, जिसकी अनुभूति नहीं है, जिसकी रूप रेखा नहीं है, जो अनादि है, अनन्त

है, अभेद्य है, अनाम है, अमध्य है, अन्तर्यामी हैं, सूर्य चन्द्र जिसके नेत्र हैं, त्रिलोक ही जिसका शरीर है, उसका वर्णन कैसे किया जाय ? शून्य (Non-existent) तत्व का चित्र कैसे खींचा जाय ? अनुभूति से परे वस्तु का वर्णन भी हो तो कैसे ? परन्तु मानव की सफलता और असफलता का रहस्य अनुभूति ही नहीं है। मानव को प्रेम का अनुभव है। प्रेम का यह तत्व सृष्टि के प्रथम मानव में भी था और आज भी है। इतना ही नहीं कि सभी सजीवों में एक दूसरे के प्रति प्रेम का भाव है वरन् सजीवों ने निर्जीवों से भी प्रेम किया है और करता रहेगा। प्रेम के सभी प्रकारों का अनुभव मानव को होता ही है। माता पुत्र का प्रेम, भाई भाई का प्रेम, भगिनी भ्राता का प्रेम, पिता पुत्र का प्रेम, पति पत्नी का प्रेम, मित्र मित्र का प्रेम, पड़ोसी पड़ोसी का प्रेम, प्रेमी और प्रेयसि का प्रेम, साधक का ईश्वर के प्रति प्रेम और भी न जाने प्रेम के कितने प्रकारों और भेदों का अनुभव प्रत्येक मानव को होता है। प्रेम ही संसार की स्थिति का कारण है। प्रेम की बाती बुझी नहीं कि मानव को फिर संसार से क्या सम्बन्ध ? इतना महत्वपूर्ण स्थान प्रेम का है। यदि ब्रह्म की कल्पना और सर्वव्यापकत्व मान लेने में कोई आपत्ति न हो, तो मेरी समझ में उसके पश्चात् प्रेम ही वह तत्व है जो सर्वदा, सर्वत्र रहा है, और रहेगा। जिस प्रकार ब्रह्म बहु वर्णित विषय रहा है, ठीक उसी प्रकार प्रेम है। काव्य, महाकाव्य, उपन्यास, कहानी, साहित्य के सभी अंगों में प्रेम की अभिव्यक्ति हुई। सभी ने स्वमत्यानुसार प्रेम की परिभाषाएँ प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है, पर क्या उनमें से एक भी, कभी भी पूर्ण कही जा सकती है ? हिन्दी के सन्त कवियों में एक भी ऐसा नहीं है जिसने प्रेम की परिभाषा निर्धारित करने का प्रयत्न न किया हो, या जिसने अपनी मति के अनुसार प्रेम

के विषय में अपने विचार न व्यक्त किए हों। कबीर, सन्त काव्य के सिरमौर हैं। प्रेम की उन्होंने बड़ी विस्तृत व्याख्या की है, फिर भी अन्त में उन्हें अपने ही सामर्थ्य पर सन्देह हुआ। अन्त में उन्हें हार कर कहना ही पड़ा, "प्रेम प्रेम सब कोई कहे प्रेम न जानें कोय।" "जिन खोजा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ" का ललकार कर दावा करने वाला कबीर जब थक कर बैठ गया तो प्रेम की परिभाषा कौन प्रस्तुत करेगा?

साहित्य के क्षेत्र में बङ्गाल के बाउल, हिंदी के सन्त कवि, तथा सूफियों का प्रेमादर्श बड़े ही उच्च कोटि का माना गया है। इनके प्रेम में अनुभूति की गहराई और विस्तार है, इनकी भावनाओं में तीव्रता है। इनका प्रेम आध्यात्मिक प्रेम है यद्यपि प्रयुक्त प्रतीक और अभिव्यंजनाशैली लौकिक प्रेम की सूचना देती है।

साधकों में एक विशेष प्रकार की एकरूपता उपलब्ध होती है। उत्तर भारत, दक्षिण भारत, महाराष्ट्र, बंगाल, पंजाब अथवा अन्य किसी प्रदेश को लीजिए, किसी वर्ग, किसी भी सम्प्रदाय को देखिए, चाहे वे बाउल हों, सूफी हों, सगुणोपासक हों या निर्गुणिया हों, सभी में एक विशेष प्रकार की एकरूपता है और वह एकरूपता है प्रेम की। सभी सन्तों और साधकों के हृदय में प्रेम लहरें भरता हुआ दीख पड़ता है। यह अवश्य है कि किसी में उसका प्रवेश अपेक्षाकृत कम है किसी में अधिक। इस कमी और आधिक्य का उत्तर तो कोई मनोवैज्ञानिक ही देगा पर इतना तो निश्चय है कि इस भावना से शून्य शायद किसी भी साधक का हृदय नहीं है।

प्रेम हृदय-जगत का व्यापार है। मस्तिष्क से उसका कोई भी सम्बन्ध नहीं है। प्रेम हृदय से होता है, मस्तिष्क से नहीं।

प्रेम तो मन माने की बात है। सुन्दर से सुन्दर वस्तु से घृणा और अपेक्षाकृत उससे कम सुन्दर वा असुन्दर से प्रेम, इस कथन का पोषक है। हृदय-जगत के इस व्यापार में कोई दबाव, ज़ोर, जुल्म और मजबूरी नहीं है। प्रेम हृदय से होता है इसलिए किसी को प्रेम करने के लिए विवश नहीं किया जा सकता। प्रेम तो स्वतः हृदय के निर्बाध फ़ौव्वारे के समान निकलता है।

प्रेम का लक्ष्य होता है प्रेम और केवल प्रेम, न दुख न सुख, न हर्ष, न उल्लास, न प्राप्ति न ऐंद्रिकता। प्रेम में प्रेमान्तिकता होती है। इसलिए प्रसिद्ध बाउल कवि मदन ने कहा था "अरे बन्दे! प्रेमका मूल्य तो प्रेम मात्र है, न सुख है और न दुख। ऐ बन्दे! यदि तू वास्तव में ही प्रेम का प्रेमी है तब तो फिर प्रेम ही तेरी प्यास है, और प्रेम ही तेरी क्षुधा है।[1] सिंध के सुप्रसिद्ध सूफी कवि शाह लतीफ ने भी इसी भाव का समर्थन किया था। उनके शब्दों में, अगर मैं पाप करता हूं तो सभी मेरे प्रति रुष्ट हैं और यदि मैं पुण्य के लिए लोभातुर हूं तो मेरे प्रियतम मुझसे रुष्ट हैं। वास्तव में प्रेम का लक्ष्य पुण्य एवं पाप से शून्य है।[2] शाहलतीफ के हृदय में पाप पुण्य के लिए जो संकल्प विकल्प हैं, जो शंका है, वह कबीर जैसे दृढ़ मनुष्य के हृदय में ठहर भी नहीं पाई। वे मुक्ति पाने के हेतु, पुण्यार्जन के हेतु या भव नरक से उद्धार के लिए भी अथवा स्वर्ग कामना के हेतु भी प्रेम नहीं करते। उनका प्रेम प्रेम के लिए है। कबीर महा प्राणवान् व्यक्ति थे। "जेहि डरते भव लोक डरत है

---

१ प्रेमेर मोल प्रेमेर बान्दा, नारे सुख नारे दुख।
प्रेमेर रसिक यदि रे बान्दा, प्रेम पियास प्रेम भूख॥

२ अवगुन हस्से समका, पीरी गुनी रुठा में।

सो डर हमरे नाहिं"[1] कह कर उन्होंने सन्देह के लिए कोई स्थान नहीं छोड़ा है। जिस बात को शाहलतीफ ने बहुत शान्त रूप में और कबीर ने स्पष्टवादिता का आधार बना कर चुनौती के रूप में ललकार कर कहा है उसी भाव को मलूकदास ने कुछ खीझ कर कहा "अरे सन्तों! तुमने तो प्रेम को लक्ष्य प्राप्ति का साधन बना लिया। तुम्हारा प्रेम सच्चा प्रेम नहीं है। कारण कि सच्चा प्रेम तो कामनारहित होता है और तुम्हारा प्रेम तो ब्रह्म को मोल लेने का साधन बन गया है। हरि तो सद्गुरु द्वारा प्रदर्शित सहज साधना से ही प्राप्त हो जाता है, उसके लिए प्रेम को क्यों कलंकित करते हो।"[2] दादू इन सभी विचारकों से एकमत होकर यहाँ तक कहते हैं कि मुझे तो प्रेम की कामना है अन्य वस्तु की नहीं। प्रेम ही के लिए मैं तो अपना सर्वस्व न्यौछार कर देने के लिए प्रस्तुत हूं"।[3] प्रेम को ही लक्ष्य बना कर प्रेम करने वाले सन्तों की सूची बहुत बड़ी है। मीरा, सहजो, दयाबाई, दादू आदि में यह भावना अधिक मुखर प्रतीत होती है।

प्रेम जगत में उच्च नीच, धनी निर्धन, महान् क्षुद्र तथा समृद्ध हीन का भाव नहीं है। इसीलिए प्रेम में स्वाधीनता एवं उत्सर्ग आवश्यक माना गया है। निश्चय ही भेद रख कर प्रेम

---

१ अनजाने को सरग नरक है हरिजाने को नाहिं।
जेहि डरते भव लोग डरत हैं सो डर हमरे नाहिं॥
पाप पुन्य को संका नाही सरग नरक नहि जाइ।
कहे कबीर सुनो हो सन्तों जहाँ का तहाँ समाइ॥

२ सन्तो प्रेम सो मोल न कीजै।
सहज प्रीति सों हरि दरसत है, सतगुरू के परसाद॥

३ सन्तवानी संग्रह भाग १ पृ० ८३।४

नहीं स्थापित हो सकता है। भेद रख कर स्थापित लगाव और चाहे जो कुछ भी कहा जाय पर प्रेम की संज्ञा नहीं पा सकता है। भगवान ने स्वतः कहा है कि जो साधक मुझे ईश्वर मानता है और अपने को हीन, उसके प्रेम के वश में म नहीं होता हूं।१ वास्तव में भगवान तो उसी के अधीन हैं, जो उन्हें हीन समझ कर उनसे प्रेमभाव में रत होता है।२ 'भक्तिसूत्र' के रचयिता नारद मुनि ने तीन प्रकार की भक्ति का उल्लेख किया है, जिसमें कान्ताभाव से प्रेम भी एक है।[३] प्रेम ही मेरा सर्वस्व है, सब साधना, सब कर्म है, लक्ष्य है वही धर्म है, वही अमूल्य सम्पत्ति हैं, वही महान् है. वही ब्रह्म है, इस भाव से युक्त ही पतिपरायणा, पतिगतप्राणा हो कर निष्काम भावना से ब्रह्म की सेवा में निरन्तर संलग्न रहना ही कांता-भक्ति का उच्चादश है। कांताभाव की आत्मा है 'एकात्मकता'। सन्त कवि ब्रह्म की अनादि अनन्त शक्ति, विराट् रूप को देख कर उसकी ओर आकर्षित हुये, प्रभावित हुये परन्तु फिर भी उनका प्रेम कान्ताभाव से ओतप्रोत है। कबीर ने तो बारम्बार अपने को "राम की बहुरिया" ही उद्घोषित किया है[४] और

---

१ आमारे ईश्वर मानें आपनोरे हीन। तार प्रेमे वश आमि ना हई अधीन॥
(चै० च० आद्य लीला १६०, सन्त अ० ११४ पृ०)

२ आपन के बढ़ माने आमारे समहीन।
सेई भाव हइ आमि ताहार अधीन। (पृ० ११५)

३ त्रिरूपभंगपूर्वकं नित्यदासनित्यकान्ताभजनात्मकं
वा प्रेमैव कार्यम् प्रेमैवकार्यम् ॥६६॥

४ बालहा आवे हमारे गेहरे तुम बिन दुखिया देह रे।
सबको कहै तुम्हारी नारी मोको इहै अदेहरे॥

उस दिव्य संयोग की कामना की है 'जहाँ ममत्व एवं परत्व की भावना विलीन हो जाती है और साधक को आत्मा अनुभव करने लगती है कि 'मैं ही तू हूँ और तू ही मैं हूँ, कबीर की भाँति अन्य सन्त कवियों में भी कान्ताभाव की भक्ति उपलब्ध होती है। सभी ने परब्रह्म के अपने पति होने की कल्पना की है। उदाहरणार्थ यारी[१], जगजीवन,[२] धरनीदास,[३] दरया साहब[४] मारवाड़ वाले तथा मलूकदास[५] की रचनाएँ पठनीय हैं।

धर्मशास्त्र में भगवत् प्राप्ति के तीन साधन प्रतिपादित हुए हैं। वे साधन हैं कर्म, ज्ञान एवं योग। परन्तु नारद मुनि के अनुसार प्रेम भक्ति उपर्युक्त तीनों साधनों से श्रेष्ठ है।[६] ब्रह्म से प्रेमभक्ति करने का सभी को अधिकार है। इसके लिए वर्ण, वर्ग, आश्रम आदि भेद विभेद मान्य एवं आवश्यक नहीं हैं।

---

१ संतबानी संग्रह भाग २, पृ० १४६।१

२ संतबानी संग्रह भाग २, पृ० १३४।१

३ संतबानी संग्रह भाग २, पृ० १२७।१

४ संतबानी संग्रह भाग २,पृ० १५४।२

५ मलूकदास की बानी देखिए 'प्रेम को अंग'

६ सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा ॥२५॥

श्रीमद्भागवत[१], श्रीमद्भगवतगीता[२] और रामचरित मानस[३] जैसे महान ग्रन्थों में भी इसी बात को भिन्न-भिन्न शैली में भले ही कहा गया है पर तीनों की विचारधारा में मतैक्य है, कि प्रेम, जप, तप, दान, त्याग, योग, व्रत, मख, नियम, स्वाध्याय, ज्ञान, वेद, यज्ञ से अधिक सरल और महान है। हिन्दी के 'संत कवियों' का साहित्य इस बात का पोषक है कि उन्होंने भी ज्ञान कर्मादि से प्रेम को उच्च और श्रेष्ठ माना है। रहस्य-वादियों एवं सूफियों की साधना की आत्मा प्रेम ही है। प्रेम का सम्बन्ध ज्ञान से नहीं है। वह मस्तिष्क की वस्तु नहीं अपितु हृदय की वस्तु है। प्रेम का स्थान ज्ञान से बहुत ऊँचा है। इसी कारण एक साधारण मानव उत्कृष्ट प्रेम कर सकता है और विद्वान उससे अनभिज्ञ रह सकता है। दूलनदास ने

---

१. न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥
भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयाऽऽत्मा प्रियः सताम्।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठाश्वपाकानपि सम्भवात्। (११।१४।२०-२१)

२. नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवं विधो द्रष्टुं दृष्ट- वानसि मां यथा।
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥ (११।५३-५४)

३. जो असि भगति जानि परिहरहीं। केवल ग्यान हेतु श्रम करहीं।
ते जड़ कामधेनु गृह त्यागी। खोजत आकु फिरहिं पय लागी।
सुनु खगेस हरि भगति बिहाई। जे सुख चाहहिं आन उपाई।
ते सठ महा सिन्धु बिनु तरनी। पैरि पार चाहहिं जड़ करनी।
उमा जोग जप ज्ञान तप नाना व्रत मख नेम।
राम कृपा नहिं करहिं तस जस निस्केवल प्रेम॥

स्पष्ट शब्दों में यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत तथा धर्म से प्रेम को श्रेष्ठ माना है।[१] दादू ने भी वेद पुराण की निन्दा करके प्रेम की महत्ता का गान किया है।[२] चरनदास जी के शब्दों में "प्रेम बराबर जोग ना, प्रेम बराबर ज्ञान।" कारण कि "प्रेम भक्ति बिन साधिबां सब ही थोथा ध्यान।"[३] अन्य सन्तों की बानियों में भी इसी प्रकार की सजातीय विचारधारा देखने को मिलती है।

प्रेम की साधना में बलिदान की विशेष आवश्यकता है त्याग और बलिदान ही प्रेम का उद्दीपक है। जिस साधक में बलिदान की भावना नहीं है वह प्रेम के क्षेत्र में अग्रसर ही नहीं हो सकता है। कबीर ने प्रेम के क्षेत्र में अवतरित होने वाले को बारबार "सीस उतारे भुई धरे"[४] तथा "सीस देइ ले जाय"[५] आदि चेतावनी देकर प्रेम मार्ग की दुर्गमता बतलाने का प्रयत्न किया है। उन्होंने इस विकट पंथ पर अग्रसर होने के लिए आकांक्षी साधक को संकटों की ओर संकेत कर देने का प्रयत्न किया है। इसीलिए कबीर ने इस प्रेम के व्यापार के विरुद्ध कहा:—

---

१ जग्य दान तप तीर्थ व्रत धर्म जे दूलनदास।
भक्ति आसरित तप सबै भक्ति न केहु की आस॥

२ दादू पाती प्रेम को बिरला बांचे कोइ।
वेद पुरान पुस्तक पढ़ें प्रेम बिना क्या होइ॥

३ सन्त बानी संग्रह प्रथम भाग पृ० १४४

४ यह तो घर है प्रेम का खाला का घर नाहि।
सीस उतारे भुई धरै तब पैठे घर मांहि॥

५ प्रेम न बाड़ी ऊपजै प्रेम न हाट बिकाय।
राजा परजा जेहि रुचै सीस देइ ले जाय॥

प्रेम विकंता मैं सुना, माथा साटे हाट ।
बूझत विलम्ब न कीजिए तत्छिन दीजै काट ।
(संतबानी संग्रह भाग १, १९।१०)

दूलनदास ने भी कहा है कि प्रेम मार्ग पर चलना हँसी नहीं है।१ साधक का बलिदान एवं त्याग केवल सांसारिक सुख, ऐश्वर्य आदि तक ही सीमित नहीं है। उसे तो स्वं शरीर-स्थ अहं भावना को भी त्याग देना होगा। कारण कि अहं और प्रेम एक ही शरीर में नहीं ठहर सकता है।२ इसीलिए सन्तों ने प्रेमी के हेतु अहम् तथा सजातीय भावों का त्याग करने के लिए बार-बार उपदेश दिया है।

प्रेम की तीव्र धारा में वैदिक कर्म एवं लौकिक वाह्याडम्बर स्वतः बह जाते हैं। प्रेम के वेग में कर्म-त्याग अपने आप ही हो जाता है। साधक का मन सदैव आराध्य में नियोजित रहता है। उसके नेत्र संसार की प्रत्येक वस्तु में उसी ब्रह्म की छबि देखते हैं। इन्द्रियाँ अपना-अपना कार्य भूल जाती हैं। मधुर दिव्य ज्योति के प्रेम में वे इतनी आतुर हो जाती हैं कि उन्हें अपना व्यापार ही बिसर जाता है। प्रेम की इसी स्थिति की अनुभूति होने पर रहस्यवादी सेंट मार्टिन ने कहा था कि मैंने उन फूलों को सुना जो ध्वनि करते थे और उन ध्वनियों को देखा जो जाज्वल्यमान थीं।"३ "रहस्यवाद के उन्माद में

१ सन्तबानी संग्रह भाग १ पृ० १३७।२

२ पीया चाहे प्रेम रस राखा चाहे मान।
एक म्यान में दो खड्ग देखा सुना न कान।

३ I heard fiowers that sounded and saw notes that shone. —Mystcism-E. Underhill 12 th. Ed. P7.

में जीवन इन्द्रिय-जगत से बहुत ऊपर उठ कर, विचार शक्ति और भावनाओं का एकीकरण कर, अनन्त और अन्तिम प्रेम में मिल जाना चाहता है। यही उसकी साधना है, यही उसका उद्देश्य है। उसमें जीवन अपनी सत्ता को खो देता है "[१] लौकिक एवं वैदिक बंधन ढीले पड़ जाते हैं। इसी स्तर पर पहुँच कर वासना, स्वार्थ, सिद्धि, ऐश्वर्य आदि की भावना निर्मूल हो जाती है। साधक के अन्तरंग एवं बहिरंग में कोई अन्तर नहीं रह जाता है। गोपियों ने भी श्रीकृष्ण के प्रेम में स्वइन्द्रियों को चेष्टाहीन अनुभव किया था। लोक लाज उन्हें निःसार प्रतीत हुई थी।"[२] सन्त कवि सुन्दरदास की निम्न-लिखित पंक्तियाँ इसी भावना की व्यंजना करती हैं:—

न लाज तीन लोक की, न वेद को कहयौ करै ।
न संक भूत प्रेत की, न देव जच्छ ते डरै ॥
सुनै न कान और की द्रसै न और इच्छना ।
कहै न बात और की सुभक्ति प्रेम लच्छना ॥

प्रेम के मधुर फल का आस्वादन करने के पश्चात् प्रायः सभी सन्तों ने वैदिक रुढ़ियों एवं वाह्याडम्बरों की दिल खोल कर निन्दा की है। प्रेम की इसी तीव्र अनुभूति के अनन्तर प्रेम-योगिनी मीरा गा उठी थी। इसी स्तर पर पहुँच कर उसके लोक-लाज की भावना समाप्त हो गई थी:—

---

१ कबीर का रहस्यबाद; डा० रामकुमार वर्मा

२ चित्तं सुखेन भवतापहृतं गृहेषु, यन्निर्विशत्युत करावपि गृह्य कृत्ये ।
पादौ पदं न चलतस्तव पादमूलाद् यामः कथंब्रजमथोकरवाम किं वा ॥
श्रीमद्भागवत १०।२९।३४

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई ।

.....

.....

सन्तन ढिग बैठि बैठि लोक लाज खोई ।

और इसी स्तर पर पहुँच कर उसने लोक लाज की निःसारता का अनुभव किया था। इस सम्बन्ध में बाउल साधक का निम्न लखित कथन पठनीय होगाः—

बुलुक से बुलुक बुलुक यार मने या लयगो ।

आपना पथेर पथिक आमि कारबा करि भयगो ॥

आमरे बीजे हयइगो आम जामेर बीजे हयगो जाम ।

आमरे बीजे सच्चा आमि जय गुरु जय जयगो ।

अर्थात् जिसे जो मन आये कहे। मैं तो अपने ही पथ का पथिक हूं। उससे विचलित नहीं हूंगा। मैं किसी से नहीं डरता हूं। आम के बीज से आम ही उत्पन्न होता है तथा जामुन के बीज से जामुन। मैं के बीज में सच्चा "मैं"। बाउल जगाने अन्तस के प्रेम पर अधिक जोर दिया है। अन्तस का प्रेम उत्पन्न होने पर बाह्याचार का बाँध विच्छिन्न हो जाता है। "अरे! तेरे ही शरीर में अतल सागर विद्यमान है। पर खेद है कि तू ही उस से अनभिज्ञ है। बाहर तू खोजता फिरता है और अपने शरीरस्थ शक्ति से अपरिचित है। उस अतल सागर का न कूल है न किनारा। न शास्त्र रूपी धारा है, न नियम है और न कर्म।"

आछे तोरइ भितर अतल सागर

तार पाइलि ना मरम

से था नाइ कूल किनारा शास्त्र धार

नियम कि करम ॥— जगा

इन्हीं वाह्याचारों की निन्दा करते हुए बाउल मदन ने कहा था—

तोमार पंथ ढाइक्याछे मन्दिरे मस्जेदे ।
तोमार डाक शुनि सांई चलते ना पाइ ।
रुइख्या दाँडाय गुरु ने भरशेदे ॥
....
तोर दुवारेइ नाना ताला पुरान कोरान तसवी माला ।
मेरख पर बइ तो प्रधान ज्वाला काँइदे मदन मेरे खेदे ॥

हे नाथ, मंदिर एवं मस्जिद ने तो तुम तक पहुँचने के सभी रास्ते ढँक लिए हैं। मैं तुम्हारी वाणी को सुनता हुआ भी अग्रसर नहीं हो पाता। कारण कि गुरु एवं मुर्शिद बिगड़ खड़े होते हैं.....तुम्हारे ही द्वार पर इतने ताले पड़े हुए हैं। हाय! भेष और पथ तो प्रधान ज्वालाएं हैं। यह समस्त वाह्याचार और सत् पथ की बाधाएं देख देख कर मदन खेद के मारे रो रहा है।" कबीरदास ने स्वतः निर्भीकता के साथ लोकाचार, लोकालोचन के विषय में कहा था—

कबीर कोई कुच्छ कहे कोई कुछ कहे
हम अटके हैं जहाँ अटके ।

रोम रोम में प्रीति के घुल जाने और समा जाने के बाद कबीर को भी मुख की श्रद्धा पर श्रद्धा न रही।[1] कबीर ने प्रेम

---

१ प्रीति जो लागी घुल गई पैठि गई मन माहिं ।
रोम रोम पिउ पिउ करै मुख की सरधा नाहिं ॥

के चमत्कारी प्रभाव का अनुभव किया था; इसी लिए इसके प्रभाव को "जहाँ प्रेम तह नेम नहिं....." आदि शब्दों में व्यक्त किया।[१] दादू ने प्रेम की तुलना में वेद एवं पुस्तक ज्ञान को हेय बताया है।[२] कबीर की भाँति सहजो बाई ने भी नियम कर्म[३] तथा लौकिक बन्धनों[४] की निस्सारता उस समय अनुभव की जब प्रेम का बीज उनके हृदय में अंकुरित हो उठा। इसी आशय से सम्बन्धित दयाबाई की दो बानियाँ पठनीय हैं—

"दया" प्रेम उनमत्त जे तन की तिन सुधि नाँहि।
मुझे रहें हरि रस छके, थके नेम व्रत नाहिं ॥[५]
दया प्रेम प्रगट्यों जिन्हें तन की तिन न संभार।
हरिरस में माते फिरैं, गृह बन कौन विचार ॥[६]

उपर्युक्त पंक्तियाँ इस बात की द्योतक हैं कि प्रेम, नेम व्रत वानप्रस्थ, गृहस्थाश्रम से उच्च और उत्कृष्ट है। प्रेम और नियम, जप तथा तप आदि एक ही स्थान पर नहीं ठहर सकते हैं। प्रेम-भाव के उद्रेक के अनन्तर कर्म और जनेऊ को तोड़

---

१ जहाँ प्रेम तह नेम नहिं तहाँ न बुधि व्यौहार।
प्रेम मगन जब मन भया कौन गिने तिथि बार ॥

२ दादू पाती प्रेम की बिरला बाँचे कोइ।
वेद पुरान पुस्तक पढ़ें प्रेम बिना क्या होइ ॥

३ प्रेम दिवाने जो भये नेम धरम गयो खोय।
सहजो नर नारी हंसै वा मन आनन्द होय ॥

४ प्रेम दिवाने जो भये जाति बरन गइ छूट।
सहजो जग बौरा कहे लोग गए सब फूट ॥

५ सन्तबानी संग्रह भाग १ पृ० १७२।१, ६ सन्तबानी संग्रह भाग १ पृ० १७२।२

फेंकने का भाव पलटू साहब में भी उपलब्ध होता है।१ सारांश यह कि सन्त कवियों ने वास्तविक प्रेम की तुलना में विधि, व्यवहार, लौकिक तथा वैदिक बाह्याडम्बरों की तीव्र आलोचना की है। सन्तों ने अन्तस्साधना पर अधिक जोर दिया है, साधन के बाह्य उपकरणों पर कम-बहुत कम।

प्रेम "कामनारहितं गुणरहितंम्" है। नारदमुनि के शब्दों में "गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षण वर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्" है।[२] गुणों को देख कर समुत्पन्न प्रेम अस्थायी प्रेम है कारण कि गुणों के अन्तर्हित होने के पश्चात् प्रेम भी विलीन हो जाता है। वास्तविक प्रेम वही है जो अपेक्षा, आकांक्षा, कामना आदि के सीमित क्षेत्र से ऊपर हो, दूर हो। प्रेम तो गुणातीत है। वह स्वार्थ की वासना के निकट भी नहीं है। प्राप्ति का विचार वासना है और वास्तविक प्रेम और वासना दोनों ही विरोधी भावनाएं हैं। इसी कारण सन्तों ने वासना से प्रेम को पृथक् रखने के पक्ष में अनेक स्थलों पर कहा है। प्रेम के द्वारा मुक्ति की कामना इच्छा अथवा अपेक्षा वासना ही है। इसीलिए दीदार के मतवाले दादू ने "अघाइ" कर प्रेम का पान तो कर लिया पर मुक्ति की कामना नहीं प्रकट की :—

दादू राता राम का पीवे प्रेम अघाइ।
मतवाला दीदार का माँगे मुक्ति बलाइ॥ [३]

---

१ सन्तबानी संग्रह भाग १ पृ० २१५।६ २ भक्ति सूत्र ५४

३ सन्तबानी संग्रह भाग १ पृ० ८२।२

प्रेमांकुर के उगते ही दलनदास ने भी अनुभव किया कि वासना उत्पन्न होना दूर है, उनकी पंच इन्द्रियाँ ही शिथिल हो गईं।[१] बुल्लासाहब ने भी प्रेम प्याला पान करते ही विस्मृति का अनुभव किया था।[२]

सन्तों ने प्रेम का आदर्श चकोर एवं मीन माना है।[३] कबीर की भांति अधिक सन्तों ने इन्हीं दो के प्रेमादर्श को बार बार दोहराया है। कुछ सन्तों ने हंस को भी आदर्श माना है, जो मोती के अतिरिक्त किसी अन्य पदार्थ को ग्रहण भी नहीं करता है। परन्तु चकोर एवं मीन का प्रेम परम्परागत है। प्रेम पर विचार प्रकट करने वालों में से प्रायः सभी ने चकोर एवं मीन को आदर्श प्रेमी के रूप में स्वीकार किया है।

हिन्दी के सन्त कवि अपनी अनन्य भक्ति और अनन्य प्रेम के लिए सूफी कवि और बंगाल के बाउलों के समकक्ष सरलता से माने जा सकते हैं। अनन्य प्रेमी के विषय में कहा भी गया है, "भक्ता एकान्तिनो मुख्याः"। वह मनसा, वाचा, कर्मणा अपने को ब्रह्म में समर्पित कर देता है। ब्रह्म और साधक की आत्मा में दिव्य संयोग स्थापित हो जाता है। प्रकृति की प्रत्येक लघु एवं महान् वस्तु में उसे ब्रह्म ही दृष्टिगत होने लगता है। ऐसी ही अवस्था में पहुँच कर साधक का मन संसार के सभी तत्वों से फिर जाता है, उस दिव्य ज्योति के अतिरिक्त उसे और कुछ देखना अच्छा नहीं लगता है। हिन्दी के सन्त कवियों की रचनाओं से इसी आशय की कतिपय साखियाँ उद्धृत की जाती हैं:—

---

१ सन्तबानी संग्रह भाग १ पृ० १३७।३, २ सन्तबानी संग्रह भाग २ पृ० १८६।२
३ सन्तबानी संग्रह भाग १ पृ० १६।१२,१३

कबीर—१ कबिरा काजर रेखहू अब तो दई न जाय ।
नैननि पीतम रमि रहा दूजा कहाँ समाय ॥

दादू—२ प्रीति जो मोरे पीव की पैठी पिंजर मांहि ।
रोम रोम पीव पीव करे दादू दूसर नाहिं ॥

चरनदास—३ जाप करे तो पीव का ध्यान करै तो पीव ।
पिव बिरहिन का जीव है, जिव बिरहिन का पीव ॥

तुलसी साहब—४ अज्ञाकारी पीव की रहै पिया के संग ।
तन मन से सेवा करै और न दूजा रंग ॥
पति की ओर निहारिये औरन से क्या काम।
सभी देवता छोड़कर जपिये गुरु का नाम ॥

उपर्युक्त पंक्तियों में "दूजा कहां समाय", "दूसर नाहिं", "ध्यान करै तो पीव", "और न दूजा रग।", "सभी देवता छोड़ कर.....नाम" विशेषरूपेण ध्यान देने योग्य हैं। सभी साखियों से एक ही ध्वनि प्रतिश्रुत होती है, और वह है अनन्य भक्ति, अनन्य प्रेम और एकान्तिकता की। कबीर ने तो दूसरे ब्रह्म की कल्पना को भी नहीं सहन किया है जैसा कि उनकी प्रस्तुत साखी से ज्ञात होता है:—

नारि कहावे पीव की रहे और संग सोय ।
जार सदा मन में बसे खसम खुसी क्यों होय ॥

सन्तों ने प्रेम को ही ब्रह्म का रूप माना है। जहाँ प्रेम है, हार्दिक प्रेम है वहीं ब्रह्म है, वहीं परमात्मा है। इसी बात

को दयाबाई[1] और तुलसी साहब[2] ने बड़े विश्वास के साथ कहा है। वही भाव हमें दादू में उपलब्ध होता है:—

इश्क अलह की जाति है, इश्क अलह का रंग।
इश्क अलह औजूद है, इश्क अलह का अंग॥[3]

दादू की उपर्युक्त साखी से प्राणनाथ की निम्नलिखित पंक्तियाँ बड़ा साम्य रखती है:—

इसक बसै पिया के अंग। इसक रहै पिया के संग।
प्रेम बसत पिया के चित्त। इसक अखँड हमेसा नित॥
इसक दिखावे पार के पार। इसक अखंड घर दातार।

इस दृष्टिकोण से शिवदयाल के विचार भी दृष्टव्य हैं:—

"वह भंडार प्रेम का भारी जाका आदि न अन्त दिखात॥"

प्रेम के विषय में दादू, प्राणनाथ और शिवदयाल के इन विचारों को पढ़ जाने के पश्चात् इस प्रसंग पर क्या कुछ और कहने की आवश्यकता रह जाती है?

---

१ सन्तबानी संग्रह भाग १ पृ० १३७।६
२ सन्तबानी संग्रह भाग १ पृ० २२८।१,३,४
३ सन्तबानी संग्रह भाग १ पृ० ८३।१२

संतों की विरहानुभूति

साहित्य में शृंगार रसराज कहा गया और विप्रलंभ शृंगार का प्राण। न केवल साहित्य के क्षेत्र में वरन् धर्म के क्षेत्र में भी विप्रलंभ शृंगार का महत्वपूर्ण स्थान है। विरह, प्रेम का उद्दीपक है। प्रेम की मन्द ज्योति को जाज्वल्यमान करने के हेतु विरह का अपना स्थान है। 'भक्ति-सूत्र' में नारद ने विरह को 'राजमार्ग' और प्रेम करने की एक शैली मानी है:—

गुणा माहात्यासक्ति रूपासक्ति पूजासक्ति स्मरणासक्ति दास्यासक्ति सख्यासक्ति कान्तासक्ति वात्सल्यासक्त्यात्म निवेदनासक्ति तन्मयतासक्ति परम विरहासक्तिरूपा एकधाऽप्येका दशधा भवति।१

यद्यपि उद्धव, गोपिकाओं और ब्रज के नर नारियों में श्रीकृष्ण के प्रति उपर्युक्त ग्यारहों प्रकार का प्रेम उपलब्ध होता है तथापि उनमें 'विरहासक्ति' का रूप अत्यन्त मुखर है। विश्व के प्रत्येक धर्म और साहित्य में विरह का महत्व पूर्ण स्थान है। पाश्चात्य देशों के रहस्यवादियों ने भी विरह का अनुभव प्राप्त किया और विरहानुभूति के उस समय को उन्होंने 'डार्क नाइट आफ दि सोल'२ अर्थात् आत्मा की अंधकारपूर्ण

---

(१) भक्ति सूत्र—देवर्षि नारद ८२ गीताप्रेस गोरखपुर

(२) Darknight of the Soul St. John of Cross, Truce's etat mystique negatif de Santis Period of Spiritual aridity.

रात्रि तथा 'ट्रू सेस एटटैट मिस्टिक नेगैटिफ' आदि के रूप में अभिव्यक्त किया। सूफियों का विरह और उनकी विरहानुभूति, हिज्र, संसार में प्रसिद्ध है। भारतीय साहित्यों में साधकों की विरहानुभूति के अनूठे उदाहरण उपलब्ध होते हैं। श्रीमद्-भागवत के दशम स्कन्ध में गोपियों का प्रेम और उनका विरह अद्वितीय है। इसी प्रकार 'सूरसागर' के दशम स्कन्ध और विशेषतः भ्रमर गीत प्रसंगमें विप्रलंभ शृंगार साकार-सा हो उठा है। हिन्दी साहित्यके मध्ययुगीन साधकों—कबीर, दादू, नानक, मलूक, सुन्दरदास, मीरा, रज्जब, रैदास आदि का काव्य उनकी विरहानुभूति से ओत प्रोत है। ईश्वर पति को प्राप्त करने के हेतु साधन पथ पर अग्रसर साधक की आत्मा रूपी नारी को कभी-कभी लक्ष्य प्राप्ति में निराशा प्रतीत होती है। नैराश्य के इन्हीं क्षणों में अभिव्यंजित संतों की अनुभूतियाँ साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं। प्रायः सभी सन्तों के काव्य में उनका बिरह मुखरित हुआ है। इसी प्रकार से महाराष्ट्र के सन्तों तुकराम, आदि के काव्य में विरह के उत्कृष्ट उदाहरण उपलब्ध होते हैं। अरबी और फारसी साहित्यों में जलालुद्दीन रूमी, इबनुल फरीद, हाफ़िज़, अत्तार तथा जामी आदि की विरहानुभूतियाँ किसी भी साहित्य की गौरव पूर्ण निधि बन सकती हैं।

सुन्दरदास ने 'सुन्दर विलास' ग्रन्थ में 'विरहिन उराहने का अङ्ग' शीर्षक के अन्तर्गत पाँच छन्दों में अपनी विरहानुभूति व्यक्त की है और स्फुट साखी साहित्य में 'अथ विरह को अंग' शीर्षक में ५१ छन्दों में विरह की अभिव्यंजना की है। इसके अतिरिक्त स्फुट पद साहित्य में कवि ने अनेक पदों में अपनी विरह-व्यथा की अभिव्यक्ति की है।

साधक को विरह की अनुभूति किसी भी अवस्था अथवा स्तर पर हो सकती है। समान्यतया साधक को विरहानुभूति उस समय होती है जब उसकी अन्तरात्मा सांसारिक माया मोह से ऊपर उठ जाती है और यम नियमादि द्वारा वह अभ्यान्तर को शुद्ध कर लेता है। यही समय उसकी आत्मा के लिए अन्धकारपूर्ण रात्रि (Dark night of the soul) प्रतीत होने लगती है। विरहानुभूति का समय तभी समाप्त होता हैं जब साधक को उस दिव्य पुंज के दर्शन होते हैं। प्रायः साधकों को आजीवन परब्रह्म के दर्शन नहीं मिले और 'पीव' के वियोग और प्रतीक्षा में उनका सम्पूर्ण जीवन व्यतीत हो गया। चैतन्य को १२ वर्षों तक विरहाग्नि में सन्तप्त होना पड़ा और तब वही 'प्रियतम' के दर्शन हुए, तभी उनके जीवन का अन्धकार पूर्ण रात्रि में प्रकाश का संचार हुआ।

रहस्यवादी के जीवन में विरह का बड़ा महत्वपूर्ण प्रभाव रहता है।[1] कबीर के अनुसार "विरहा है सुलतान" और "जाघट विरह न संचरै सो घट जान मसान"। दादू के शब्दों में प्रेम को उद्दीप्त करने के लिए विरह की विशेष आवश्यकता है। पिपासा में जल, क्षुधा में अन्न और घाम में शीतल छाया का जो महत्व है वही प्रेम में विरह का।[2] पाश्चात्य विचारकों के समान दादू का भी मत है कि विरह पावक में सभी मानसिक विकार दग्ध होकर विनष्ट हो जाते हैं।[3] इसी प्रकार सुन्दरदास ने विरह का महत्व स्फुट साखी साहित्य में 'अथ विरह को अंग' शीर्षक के अन्तर्गत वर्णित किया है।

---

१ सन्तबानी संग्रह पृ० १८

२ दादू की बानी पृ० ४०, १०१-१०४

३ दादू की बानी पृ० ३/१४१

साहित्य के अन्तर्गत विरह की दश दशाएँ मानी गई हैं।[1] वैष्णवों के मतानुसार विरह आठ प्रकार का होता है:-- स्तम्भ, कम्प, स्वेद, आँसू, स्वरभंग, वैवर्ण्य, पुलक, तथा प्रलय। फारसी साहित्य में विरह की नौ दशाएँ मान्य हुई हैं। उपर्युक्त इन विभिन्न दशाओं में से प्रत्येक सन्त कवि में सभी दशाओं के दर्शन नहीं होते हैं। यह अवश्य है कि इनमें से अधिकाँश दशाएँ प्रत्येक संत कवियों की वानियों में उपलब्ध होती हैं। सामान्य रूप से सन्तों में उपलब्ध होने वाली दशाएँ निम्न लिखित हैं:-- चिन्ता, व्यग्रता, आँसू, उद्वेग, विस्मृति, जागरण, अरुचि, (अन्न-भोजन), मृत्यु। अब हम यहाँ पर सन्तों के काव्य में मिलने वाली विरह की प्रत्येक दशा पर पृथक-पृथक विचार करेंगे।

'चिन्ता' सन्तों की विरह की प्रथम अवस्था है। साहित्य में इसका दूसरा स्थान है और यह दशा 'अभिलाषा' के बाद आती है। यह अभिलाषा से बढ़ी हुई दशा है। उसमें दुख की मात्रा अधिक है। इसमें दर्शन की लालसा अधिक हो जाती है। चिन्ता की दशा हमें प्रायः सभी सन्तों में उपलब्ध होती है। साधना के क्षेत्र में प्रविष्ट हुए पर्याप्त समय बीत जाने पर भी ईश्वर-पति के दर्शन न प्राप्त होने पर सन्तों का चिन्तित होना स्वाभाविक ही है। सन्तों की चिन्ता में भी विरह की गम्भीर अभिव्यक्ति मिलती है।

---

१ अभिलाषा, सुचिन्ता गुण कथन स्मृति उद्वेग प्रलाप।
उन्माद व्याधि जड़ता भये होत मरण पुनि जाय ॥ गुनवरस-लाबराय

सुन्दरदास[१], कबीर[२], धर्मदास[३], मीरा[४], मलूक[५], चरनदास[६], धरनीदास[७], दादू[८], दरिया साहब[९], बुल्ला साहब[१०], वल्लेशाह[११], पल्टू[१२] तथा तुलसी साहब[१३] के काव्य में चिन्ता के सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। सुन्दरदास के काव्य साहित्य से यहाँ पर विरह की प्रथम अवस्था 'चिन्ता' के कतिपय उदाहरण उद्धृत किये जाते हैं:—

माई हो हरि दरसन की आस ।
कब देखौं मेरा प्रान सनेही नैन मरत दोऊ प्यास ।।
पल छिन आध घरी बिसरौं सुमिरत सास उसास ।
घर बाहर मोहि कल न परत है निस दिन रहत उदास ॥
यहै सोच सोचत होहि सजनी सूके रगत र माँस ।
सुन्दर बिरहिन कैसे जीवै विरह विथा तन त्रास ॥

---

१ सुन्दर ग्रन्थावली भाग २, पृ० ६८१
२ सन्तबाणी स० भाग २, पृ० १२
३ धर्मदास स० भाग २०, पृ० ४४
४ धर्मदास स० भाग २० पृ० ७०
५ मलूकदास की बानी पृ० १-८
६ चरनदास की बानी पृ० १६
७ धरनीदास की बानी पृ० २,३
८ स० ब० स० भाग २, पृ० ६३
९ स० ब० स० भाग २, पृ० १४८
१० स० ब० स० भाग २, पृ० १७२
११ स० ब० स० भाग २; पृ० १८८
१२ स० ब० स० भाग २, पृ० २२१
१३ स० ब० स० भाग २, पृ० २४५

(ख) मेरा प्रीतम प्रान अधार कब घरि आइहै ।
कहुँ सौ दिन ऐसा होइ दरस दिषाइ है ॥
ये नैन निहारत मारग इकटक हेरही ।
बाल्हा जैसे चन्द चकोर दृष्टि न फेरही ॥
यह रसना करत पुकार पिव पिव प्यास है ।
बाल्हा जैसे चातक लीन दीन उदास है ।
ये श्रवन सुनन कौं बैन धीरज नां धरै ।
बाल्हा हिरदै होइ न चैन कृपा प्रभु कब करै ॥
मेरे नख शिख तपत अपार दुख कासौं कहौं ।
जप सुन्दर आवै यार सब सुख हौं लहौं ।

'व्यग्रता' सन्तों की विरहानुभूति की दूसरी दशा है। इसमें साधकों को बड़ी बेचैनी का अनुभव होता है। उसे कहीं शांति नहीं मिलती। उसका हृदय रह रहकर 'पीव' के दर्शन को व्यग्र हो उठता है। उसे किसी भी सुखदायी पदार्थ से सुख नहीं मिलता है। यह दशा भी प्रायः सभी सन्तों में मिलती है। कबीर[१], मीरा[२], दादू[३], धरनीदास[४], चरनदास[५], तुलसीसाहब[६], तथा बुल्लेशाह[७], के काव्य में उनकी व्यग्रता के सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। व्यग्रता, सन्तों में दो प्रकार की पाई जाती है। एक साधारण मानव जैसी व्यग्रता, द्वितीय चरम कोटि की।

---

१ सा० बा० स० २ पृ० १२ २ ,, ,, ,, ,, ,, ७२
३ ,, ,, ,, ,, ,, ६३ ४ धरनीदास की बानी पृ० २
५ चरनदास की बानी पृ० १६ ६ स० बा० स० भाग २ पृ० २४४
७ ,, ,, ,, ,, ,, १८८

जल से निकली मछली के समान भी तड़पन 'तलफना' संतों ने अनुभव-किया था। उनके काव्य में इस प्रकार के अनेकों नेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं। कबीर,[१] दादू,[२] मीरा,[३] और मलूक[४] के काव्य में इस प्रकार की भावना का बाहुल्य है। सुन्दरदास के काव्य में व्यग्रता के उभय प्रकारों के उदाहरण उपलब्ध होते हैं। प्रियतम परब्रह्म की प्राप्ति के लिए वे कितने व्यग्र हैं यह उनके निम्न-लिखित छन्दों से प्रकट होता है :—

बिरहिन है तुम दरस पियासी।
क्यौं न मिलो मेरे पिय अविनासी॥
येते दिन हौं काइ विसासी निसि दिन मरत है नारी।
बिभचारिन हौं होती नांहिलै पतिव्रतहिं रही मन माहीं॥
तुम तौ बहुत त्रियन संग कीनौ मैं तो एक तुमहि चित दीनौ।
सुन्दर दास भई गति ऐसी चातक मीन चकोरहि जैसी॥
सुन्दर पिय कै कारणैं तलफै बारह मास।
निसि दिन लौ लागी रहै चातक की सी प्यास॥

'आँसू' सन्तों की विरहानुभूति की तृतीय दशा है। यह दशा वैष्णवों और फारसी साहित्य में मान्य है पर हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में नहीं। यह दशा प्रियतम की प्रतीक्षा करते करते निराश संतों में अधिक दृष्टिगत होती है। प्रतीक्षा की भी सीमा होती है, विरह की भी कोई अवधि होती है। पर जब नैराश्य ही

---

१ स० बा० स० भाग २ पृ० १० २ ,, ,, ,, ,, ,, ६३
३ मीराबाई की बानी ४ मलूकदास की बानी १-८

साथ हो लेती है, तो नेत्र बरस पड़ते है। दादू,[१] मलूक[२], सुन्दर,[३] दरिया (बिहार वाले),[४] चरनदास,[५] में उनकी इस दशा का चित्रण मिलता है। सुन्दरदास के काव्य में विरह की इस दशा का चित्रण कई बार हुआ है। उदाहरणार्थः—

(क) *सुन्दर बिरहिन अति दुखी पीव मिलन की चाह।*
निस दिन बैठी अनमनी नैननि नीर प्रवाह॥

(ख) *सुन्दर तलफै बिरहनी बिलखि तुम्हारे नेह।*
नैन श्रवै घन नीर ज्यौं सूकि गई सब देह।

'उद्वेग' की दशा 'आँसू' के पश्चात है। इस दशा में सुखदायक वस्तु भी दुखदायक प्रतीत होने लगती है। इस दशा में मन की गति तीव्र हो जाती है। प्रकृति के उपकरण चन्द्रिका, चन्द, मेघ, शीतल मन्द वायु कष्टप्रद प्रतीत होने लगती है। फूल शूल बन जाते हैं। नक्षत्र अंगारवत् प्रतीत होते हैं। मीरा[६] और तुलसी साहब[७] का काव्य इस प्रकार के उद्धरणों से पूर्ण है। सुन्दरदास के काव्य से विरह की इस दशा को व्यक्त करने वाला एक छन्द नीचे उद्धृत किया जाता है।

हम पर पावस नृप चढ़ि आयौ।
बादल हस्ती हवाई दामिनी गरजि निशान बजायौ॥

---

१ स० बा० स० पृ० ६४

२ जिय बिबहल पिय मिलन को घरी रही न चैन।
निशि दिन आँसू बहि चलें नींद न आवै रैन॥ (शब्दसंग्रहअप्रकाशित)

३ स० बा० स० पृ० १०६ ४ ,, ,, ,, ,, १४८
५ ,, ,, ,, ,, १८३ ६ ,, ,, ,, ,, ७३
७ स० बा० स० पृ० २४३

पवन तुरंगम चलत चहूँदिश बूदवान झरि लायौ।
दादुर मोर पपीहा पाईक मारै मार सुनाँयौ॥
दशहू दिशा आइ गढ़ घेर्यौ विरहा अनल लगायौ।
जइये कहाँ भागि के सजनी रजनी दुन्द उठायौ॥
को अब करै सहाइ हमारी पिय परदेश हि छायौ।
सुन्दरदास विरहनी ब्याकुल करिये कौन उपायौ॥

'उद्वेग' के पश्चात् 'विस्मृति' की दशा है। इस दशा में पहुँच कर साधक की साधना और तीव्र हो जाती है। वह ब्रह्म में लीन हो जाने का प्रयत्न करता है। उसकी इन्द्रियाँ अपना कार्य भूलकर एक लक्ष्य की ओर प्रवृत्त हो जाती हैं।[1] वह संसार के व्यापार नियम तथा रीतियों को भूलकर आगे बढ़ता जाता है। पाश्चात्य रहस्यवादी सैंट मार्टिन ने भी इस दशा का अनुभव किया था। हिन्दी[2] संत कवियों में धरनीदास[3] पल्टू साहब[4] एवं सुन्दरदास में इस प्रकार के भाव मिलते हैं। विस्मृति की दशा अन्य संतों में नहीं उपलब्ध होती है। सुंदरदास के सहित्य में उद्वेग के एक से एक सुन्दर उदाहरण उपलब्ध होते हैं। उदाहरणार्थ सुन्दर ग्रन्थावली भाग २ पृ० ६०५ पर पद ३-४ इस दृष्टिकोण से पठनीय हैं।

---

१ स० बा० स० पृ० ३६

२ Mysticism by E. Underhill p. 82

३ धरनीदास की बानी—१४

४ स० बा० स० भाग २ पृ० २२३

विरह की और तीव्र अवस्था आने पर 'जागरण' की दशा आती है। इस दशा में साधक को निद्रा नहीं आती। वह प्रयत्न करता है। सेज शूलवत चुभती है। इसी दशा में पहुँच कर साधक को खाना पीना कुछ भी नहीं रुचता है। वह अत्यन्त दुखी होकर जीवन के लिए आवश्यक इन तत्वों की ओर से भी विमुख हो जाता है। चिन्ता, व्यग्रता और उद्वेग के कारण वह विक्षिप्त सा हो जाता है। साधना के क्षेत्र में असफलता, निराशा, प्रियतम प्राप्ति के विलम्ब के कारण वह जीवन को निःसार समझने लगता है। और इसीलिए वह भोजन और शयन को छोड़ देता है। इस दशा में साधक बहुत ही निर्बलता प्रतीत करता है[1]। यह दशा कबीर[2], मीरा[3], धरनीदास[4], चरनदास[5], बुल्लाशाह[6], पल्टू[7], तुलसीसाहब[8], तथा दरियासाहब[9], (मारवाड़) सुन्दर दास आदि कवियों में उत्कर्ष पर है। भोजन, शयन, निद्रा के परित्याग कर देने की अवस्था का अनुभव कवि सुन्दर दास ने भी किया था। रात नींद नहीं, दिन चैन नहीं। इस दशा में साधक सुन्दर दास के विचार पठनीय हैं।

(क) हो बैरागी राम तजि किहिं देश गये।
ता दिन तैं मोहि कल न परत है परबसि प्रांन भये॥

---

(१) मलूकदास की बानी ३५।३० (२) सा० बा० स० २ पृ० १०, ११
(३) ,, ,, ,, ,, ,, ७१ (४) स० ब० स० २ पृ० १२७
(५) चरनदास की बानी पृ० १७ तथा धरनीदास की बानी पृ० २
(६) सा० बा० स० ,, १८८ (७) स० बा० स० ,, २२०
(८) ,, ,, ,, ,, २४३ (९) स० बा० स० आ० १ १२८

भूषे पियास नींद नहीं आवै नैननि नेम लये ।
अंजन मंजन सुधि सब बिसरी नख शिख बिरह तये ॥
आपु कृपा करि दरसन दीजै तुम कौने रिझये ।
सुन्दर विरहनि तब सुख पावै दिन दिन नेह नये ॥

(ख) भूख पियास न नीद डी विरहनि अति बेहाल ।
सुन्दर प्यारे पीव बिन क्यों करि निकसै साल ॥

(ग) हाकी वाकी रह गई ना कछु पिवै न [illegible] ।
सुन्दर विरहनि वह सही चित्र लिषी रहि जाइ ॥

उपर्युक्त दशा के पश्चात् 'मूर्छा' आदि के दौरे आने की दशा है परन्तु इस दशा के उदाहरण सन्तों में नहीं उपलब्ध होते हैं। यह दशा सूफियों में बहुत पाई जाती है। सूफियों में इस दशा का नाम 'हाल' है। पाश्चात्य विद्वान रहस्यवादियों में भी यह पाई जाती है[1]। भारतीय सन्तों में चैतन्य ने इस प्रकार के मूर्छा के दौरों का अनुभव किया था[2]।

विरह की अन्तिम दशा है मरण व मृत्यु। जब विरह असह्य हो जाता है, निराशा निःसीम हो जाती, शरीर क्षीण हो जाता, थोड़े थोड़े समय के अन्तर से मूर्छा आने लगती है, प्रवृतिक सुखद तत्व अत्यन्त दुखद प्रतीत होने लगते हैं, साधक को जीवन भार प्रतीत होने लगता है उस समय वह आत्मघात

---

(१) Mysticism–E. Underhill p. 394-395
And:—Inge, W. R.–Christian Mysticism p. 221

(२) चैतन्य चरितावली—प्रभुदत्त ब्रह्मचारी—भाग ५ पृ० १३५, गीताप्रेस, गोरखपुर

कर लेने के हेतु प्रयत्नशील हो उठता है। वह ईश्वर से मृत्यु के लिए प्रार्थना करता है[१]। कबीर[२], मीरा[३], तुलसीसाहब[४], मलूकदास[५], दादू[६], चरनदास[७], और सुन्दरदास में यह भावना बड़ी तीव्र है। सुन्दरदास में यह भावना बहुत ही तीव्र दिखाई देती है। स्थान स्थान पर उनमें प्राणों के उत्सर्ग की भावना और कामना प्रबल हो उठती है। उदाहरणार्थः—

(क) मेरो पिय परदेश लुभानै री।

जानत हौं अजहूँ नहिं आये काहू सौं उरझानौ री॥
ता दिन ते मोहि कल न परत है जब तै कियो पयानौ री॥
भूप पियास नींद नहिं आवै चितवत रोत विहानौ री।
विरह अग्नि मोहि अधिक जरावै नैननि मैं पहिचानौं री।
विन देषै हौं प्रान तजौंगी यह तुम सांची मानौ री।

(ख) चलै हवाई दामिनी बाजै गरज निसान।

सुन्दर विरहनि क्यों जिवै घर नहिं कन्त सु जान॥

कुछ सन्तों ने आत्महत्या की भावना को क्रियात्मक रूप से भी परिणित करने का प्रयत्न किया है जिनमें से सन्त तुकाराम विशेष रूपेण उल्लेखनीय हैं। अन्य व्यक्तियों द्वारा सामयिक हस्तक्षेप ने उनका जीवन बचाया अन्यथा तुकाराम अपने प्रयत्न में सफल हो चुके थे[८]।

---

(१) दयाबाई की बानी पृष्ठ ७।१८ (२) स० बा० स० पृ० १०
(३) ,, ,, ,, ,, ७० (४) ,, ,, ,, ,, २२४
(५) मलूकदास की बानी पृष्ठ ६ तथा शब्द संग्रह
(६) स० बा० म० पृष्ठ ६४ (७) चरनदास की बानी ,, १६
(८) Mysticism in Maharastra by
R. D. Ranade Poona, 1935, page 299

सामान्य रूप से विरह की उपर्युक्त ये सभी दशायें हिन्दी के सन्तों में उपलब्ध होती हैं परन्तु कुछ ऐसे भी सन्त हैं जिन्हें इन दशाओं के अतिरिक्त और भी अन्य दशाओं का अनुभव विरह से हुआ है कबीर[१], धरनीदास[२], और मीरा[३] ने विरह के कारण एक विचित्र दर्द का अनुभव किया जो सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हो गया था। कुछ सन्तों ने विरह की तीव्रता में विक्षिप्तता का भी अनुभव किया था[४]। मीरा[५], मलूक[६], और सुन्दर[७] ने शारीरिक कृशता और दौर्बल्य का अनुभव किया।

प्रेम के जगत में विरह का बड़ा महत्व है। इस पर सभी देशों के विद्वान और मनोवैज्ञानिकों में मतसाम्य है। कारा वनबनसन विरह को आत्मा के उत्थान में अत्यावश्यक तत्व मानते हैं। कुछ विद्वानों ने विरह को जाग्रति की अवस्था मानी है। दरियासाहब (मारवाड़) विरह को "हरि कृपा" मानते हैं। जिसने सुप्त दरिया को जाग्रत कर दिया (सोता लिया उठाय) वास्तव में आध्यात्मिक क्षेत्र में विरह का बड़ा महत्व है। जिस साधक का हृदय विरह से युक्त नहीं है वह स्मशान समान है। कबीर के शब्दों में:—

विरह विरह मत कहो विरह है सुलतान।
जा घट विरह न संचरै सो घट जान मसान॥

---

(१) स० बा० स० २ पृष्ठ ३६ (२) स० ब० स० पृ० ६६
(३) ,, ,, ,, ,, ,, ७२ (४) ,, ,, ,, ,, ४३
(५) ,, ,, ,, ,, ,, ७२ (६) मलूकदास की बानी शब्द संग्रह
(७) स० बा० स० २ पृ० १२६

सन्त कवि और नारी

सन्तों में नारी निन्दा की परम्परा बड़ी ही प्राचीन है। इस परम्परा का श्रीगणेश सिद्ध कवियों से हुआ। सिद्धों से प्रारम्भ होकर जैन व नाथ कवियोंके साहित्यमें परिपोषित होती हुई यह परम्परा हमारे सन्तों में दृष्टिगत होती है। गोरखनाथ ने भी नारी के कामिनी रूप की निन्दा की है (गोरख बानी पृ० ७ और ५८)। परन्तु गोरखनाथ तक नारी की निन्दा का वह उग्र रूप नहीं दृष्टिगत होता है जो केवल कुछ वर्षों के पश्चात् ही कबीर में उपलब्ध होता है। इन सन्तों ने नारी की बारम्बार निन्दा की। ऐसा प्रतीत होता है कि नारी की आलोचना और निन्दा करने में उन्हें किसी सीमा पर भी सन्तोष नहीं प्राप्त हुआ। कबीर[१], दादू[२], मलूक[३], धरनीदास[४], दरिया साहब (बिहारवाले)[५], चरनदास[६], पलटू साहब[७] आदि ने नारी के भोग-प्रधान स्वरूप की खूब निन्दा एवं आलोचना की है। मुन्दरदास के साहित्य में भी यही प्रवृत्ति विद्यमान है। सुन्दरदास ने तो कबीर की भांति जी खोलकर नारी की निन्दा की और उस से पृथक और दूर रहने का उपदेश दिया

---

१ संत-बानी संग्रह भागपृ० १५७, २ संत-बानी संग्रह भाग १ पृष्ठ ६१
३ ,, ,, १०३, ४ ,, ,, ११५
५ ,, ,, १२४, ६ ,, ,, १४६
७ ,, ,, २२३,

है। एक बात बड़े आश्चर्य की यह है कि सन्तों की परम्परा में होने वाली नारी कवित्रियों ने नारी के विषय में कुछ भी नहीं लिखा। सहजोबाई, दयाबाई, मीराबाई आदि का साहित्य नारी विषयक किसी भी प्रकार के उल्लेख से शून्य है। न उन्होंने नारी की निन्दा की है और न प्रशंसा।

सन्तों ने नारी को त्रयोगुण विनाशिनी कहा है।[1] उन के अनुसार नारी माया (अविद्या) की प्रतीक, विष की कोठरी, सर्पिणी, घातक छुरी तथा साधना के क्षेत्र से अपदस्थ करने का साधनादि है। इसीलिये उन्होंने उससे दूर रहने के लिये बारम्बार चेतावनी दी है। कबीर और सुन्दरदास ने कामिनी के जिस स्वरूप को अपने साहित्य में अभिव्यक्त किया है, निश्चय ही वह नारी से विलग रहने के लिए प्रेरित करता है।

सुन्दरदास के अनुसार नारी का शरीर एक भयानक सघन जंगल के समान है जहां भांति भांति के भयानक एवं घातक जीव निवास करते हैं। कामिनी का शरीर एवं व्यक्तित्व अज्ञात एवं अपरिचित सघन जंगल की भांति है जहां मनुष्य मार्ग भूल कर भ्रम में पड़ जाता है। यहां पर कवि का तात्पर्य यह है कि नारी माया (अविद्या) का अंग और साधन है अतः वह साधक को भ्रम में डाल देती है। नारी के उस भयानक सघन जंगल में गति रूपी हाथी है, कटि रूपी सिंह, बेणी रूपी काला नाग है, कुच रूपी पहाड़ों में कामदेव रूपी चोर निवास करते हैं, यहीं पर नेत्रों में कटाक्ष रूपी घातक

---

१ नारि नसावै तीन गुन, जो नर पासे होय।
भक्ति मुक्ति निज ध्यान में, पैठि न सकै कोय॥
सं० बा० स० १, ५८/८

बाण चलते हैं, और उसका सुन्दर मुख राक्षसों के मुख के समान भयानक है जो मानव जाति को खाता हुआ चला जा रहा है।[1] इन उपमाओं के द्वारा जो रूपक प्रस्तुत किया गया है वह नारी का भोगमय रूप है। इस रूपक में नारी का सौन्दर्य वर्णित है। नारी के इसी सौंदर्य पर मुग्ध हो कर मानव उसके साथ प्रसंग कर के अपनी शक्ति को क्षीण करता रहता है। कवि के अनुसार पुरुष नारी के जिस स्वरूप को देख कर मुग्ध हो जाता है वही रूप विष से पूर्ण है। नारी विष रूपी नारी से उत्पन्न होती है इसीलिये नख से शिख तक वह विष से परिपूर्ण है। उसके समस्त कृत्य एवं हाव-भाव विष के समान ही घातक हैं। उसकी सुन्दर भुजायें विष की बेलि के समान ही हैं जिन में फंस कर मानव पंचतत्व को प्राप्त होता है। विष वृक्ष रूपी नारी के घातक प्रभाव मे यदि संसार में कोई भी मनुष्य बचा है तो वह है केवल सन्त। इसके अतिरिक्त समस्त मानव समाज उसी के माया जाल में फंसा हुआ है[2]।

---

(१) कामिनी की देह मानों कहिये सघन बन
उहां कोऊ जाइ सु तौ भूलि कै परतु है।
कुंजर है गति कटि केहरि कौ भय जामैं
बेनी काली नागनीऊं फन कौं धरतु है॥
कुच है पहार जहां काम चोर रहै तहां
साधिकै कटाक्ष बान प्रान कौ हरतु है।
सुन्दर कहत एक और डर अति तामैं
राक्षस वदन पांऊं पांऊं ही करतु है॥

(२) विष ही की भूमि मांहि विष के अंकूर भये
नारी विष बेलि बढ़ी नख शिख देखिये।

कामिनी का सौंदर्य बड़ा ही मोहक एवं आकर्षक होता है। वस्तुतः तथ्य इस के प्रतिकूल है। नारी का वाह्याकार भले ही मोहक तथा आकर्षक हो पर उसका अन्तिम परिणाम है स्मशान की भीषण ज्वालायें। इतना सौंदर्य, इतना आकर्षण, इतनी मोहकता, और इतनी कोमलता सब क्षणों में अग्नि की प्रज्वलित लपटों में भस्म हो जाता है और शेष रह जाता है अस्थियों का समूह। यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो स्पष्ट ही है कि यह शरीर मल, मूत्र एवं थूक आदि का आगार है। कामिनी का अंग प्रत्यंग अत्यन्त मलीन है और अशुद्ध है। मांस और मज्जा से निर्मित शरीर का क्या सौंदर्य है जिसकी प्रशंसा और नख शिख का वर्णन कवि समुदाय करता रहता है। सुन्दरदास ने नारी के इसी वीभत्स एवं घृणित रूप का चित्र निम्नलिखित पंक्तियों में अंकित किया है :—

कामिनी कौ अंग अति मलिन महा अशुद्ध
रोम रोम मलिन मलिन सब द्वार हैं।
हाड़ मांस मज्जा मेद चाम सों लपेट राषै
ठौर ठौर रकत के भरेई भंडार हैं॥

विष ही के जर मूर विष ही के डार पात
विष ही के फूल फर लागे लागे जू विशेषिये॥
विष के तंतू पसारि उरझाये आंटिमारि
सब नर बृक्ष पर लपटी ही लेषिये।
सुन्दर कहत कोऊ एक तरु बचि गये
तिन कै तौ कहुं लता लागी नहीं पेषिये॥

मूत्र ऊ पुरीष आंत एकमेक मिलि रही
और ऊ उदर मांहिं बिबिधि विकार हैं।
सुन्दर कहत नारी नख शिख निंद रूप
ताहि जे सराहें ते तो बड़ेई गंवार हैं॥

इसी प्रकार का वर्णन संस्कृत साहित्य में भर्तृहरि कृत 'वैराग्य शतक' में हुआ है। 'वैराग्य शतक' की निम्नलिखित पंक्तियां पठनीय हैं :—

स्तनौ मांस ग्रन्थी कनककलशावित्युपमितौ,
मुखं श्लेष्मागारं तदपि च शशाङ्केन तुलितम्।
स्रवन्मूत्रक्लिन्नं करिवरकरस्पर्द्धिजघन,
महो निन्द्यं रूपं कविजनविशेषैर्गुरुकृतम्॥

अर्थात्, स्त्रियों के स्तन मांस के लोंदे हैं उन्हें सुवर्ण कलश की उपमा दी जाती है। मुख थूक का घर है उसे चंद्रमा के समान बताया जाता है और टपकते हुए मूत्र से भीगी हुई जांघों को श्रेष्ठ हाथी की सूंड़ से उपमा दी जाती है। खेद है कि स्त्रियों के ऐसे अत्यन्त निन्दनीय स्वरूप को कवियों ने कैसा बढ़ा बढ़ा कर वर्णित किया है।

नारी का यह विनाशशील घृणास्पद शरीर जिस में मानव इतना अधिक अनुरक्त रहता है वह वस्तुतः नर्क है। नारी के अंग-प्रत्यंग में नर्क का जो सुन्दर चित्रण किया है, वह पठनीय है :—

उदर मैं नरक नरक अध द्वारिन मैं
कुचन मैं नरक नरक भरी छातिन हैं।

कंठ मैं नरक गाल चिबुक नरक बिंब
मुख मैं नरक जीभ लार हूँ चुचाती है ।।
नाक मैं नरक आंखि कान मैं नरक बहै
हाथ पांव नख शिख नरक दिषाती है ।
सुन्दर कहत नरक कौ कुंड यह
नरक मैं जाइ परै सो नरक पाती है ।।

नारी के जिस सौंदर्य और स्वरूप का वर्णन कवि ने उपर्युक्त दो छन्दों में किया है उस से सर्वथा विपरीत वर्णन रीतिकालीन कवियों ने किया। रीतिकालीन कवियों की तो समस्त प्रतिभा कामिनी के रूप में ही खप गई है। पूरे दो सौ वर्ष तक रीति काल के कवि नारी के नख शिख वर्णन में ही व्यस्त रहे। उन्होंने इनके भेद उपभेदों के वर्णन में ही अपना पाण्डित्य समझा था। ग्रन्थों के पश्चात् ग्रन्थों की रचना हो गई फिर भी उनकी दृष्टि में वर्णन अपूर्ण ही रह गया। इन्हीं ग्रन्थों में कवि केशवदास की 'रसिक-प्रिया' उल्लेखनीय है। सुन्दरदास ने इसी 'रसिक-प्रिया' की आलोचना बड़े ही सुन्दर व्यंगात्मक शैली में की है। कवि के मत से ऐसे ग्रन्थों का अध्ययन काम की उत्तेजना करता है और विषय वासना में प्रवृत्त करता है। जिस प्रकार रोगी मिष्ठान्न खाकर रोग को और भी अधिक बढ़ाव देता है उसी प्रकार 'रसिक-प्रिया' जैसे ग्रन्थों के अध्ययन से मानव अपनी विषय वासना को उत्तेजना देता है। इसी कारण कवि ने इस कोटि के ग्रन्थों का अध्ययन वर्जित रखा है :—

रसिक प्रिया रस मजरी और सिंगारहिं जानि।
चतुराई करि बहुत विधि बिषै बनाई आंनि।
विषै बनाई आंनि लगत विषयनि कौं प्यारी।
जागै मदन प्रचन्ड सराहैं नख शिख नारी॥
ज्यौं रोगी मिष्ठान षाइ रोगहिं विस्तारै।
सुन्दर यह गति होइ जुतौ रसिक-प्रिया धारै॥

संत कवियों ने जहां एक ओर नारी के भोगमय वासना-पूर्ण स्वरूप की निन्दा की है, उसे अविद्या माया का प्रतीक माना है वहीं दूसरी ओर उसके कल्याणकारी रूप की प्रशंसा भी की है। कवियों ने नारी के उस रूप का समर्थन किया है जो पुरुष को सत्कार्य और धर्म की ओर अग्रसर होने के लिए प्रेरित करता है। कामिनी के परम निन्दक कबीर ने स्वतः स्पष्ट रूप से कहा है कि "नारी निन्दा ना करौ नारी नर की खान" कारण कि नारी से ही प्रह्लाद, ध्रुव, जैसे भक्त उत्पन्न हुए। कबीर ने नारी के सत् और शुद्ध रूप की बड़ी प्रशंसा की है। सती को उन्होंने बड़ा उच्च स्थान दिया है:—

साधू भीख न मांगई जो मांगै सो भांड।
सती न पीसै पीसना जो पीसै सो रांड॥

इसी प्रकार कबीर ने मैली कुचैली पतिव्रता को विश्व वंद्य कहा है। कबीर के समान दादू[1], चरनदास[2], सुन्दर दास[3],

(१) सन्त बानी संग्रह १, पृ० ६१
(२) सन्त बानी संग्रह १, पृ० १४६
(३) सुन्दर ग्रन्थावली पृ० ४७५

आदि सन्तों ने पतिव्रता नारी को वन्दनीय एवं प्रशंसनीय माना है ।

अपनी समस्त भावनाओं, प्रेम, ममत्वादि को अपने पति पर केन्द्रित कर देना 'पातिव्रत' है । सन्तों ने 'पतिव्रता' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया है:—प्रथम, सांसारिक भाव में । द्वितीय आध्यात्मिक भाव में । सांसारिक क्षेत्र में जब कवि पतिव्रता शब्द का प्रयोग करता है तो तात्पर्य होता है उस स्त्री से जो मनसा, वाचा, कर्मणा सर्वथा अपने पति पर अनुरक्त है । आध्यात्मिक क्षेत्र में इस शब्द का प्रयोग अद्वैत ब्रह्म की उपासना एवं अर्चना के लिए हुआ है । द्वैत ब्रह्म की उपासना करने वालों को इन कवियों ने व्यभिचारी और दुराचारी कहा है । इनकी द्वैत के समर्थकों की सन्तों ने निन्दा भी की है । इन्हीं 'बिभिचारिन' के प्रति कबीर दास जी कहते हैं:—

नारि कहावै पीव की, रहै और संग सोय ।
जार सदा मन में बसै, खसम खुसी क्यों होय ॥[1]

कबीर के समान ही इन 'बिभिचारिनों' की निन्दा करने वालों में दादू (स० बा० स० १।६१) तथा सुन्दरदास विशेष रूप से उल्लेखनीय है ।

सुन्दरदास के अनुसार वही नारी श्रेष्ठ एवं पतिव्रता है जो अपने पति की इच्छा के अनुसार आचरण करे और जो उस पति की इच्छा को अपनी इच्छा माने । पतिव्रता पति की भावनाओं और कामनाओं के अनुकूल ही आचरण करती है ।

---

(१) स० बा० स० १, पृ० ४२/१

प्रभू चलावै तब चलै सोइ कहै तब सोइ ।
पहरावै तब पहरिये सुन्दर पतिव्रत होइ ॥
जौ प्रभुकौ प्यारौ लगै सोई प्यारौ मोहि ।
सुन्दर ऐसे समुझि करि यौ पतिव्रता होहि ॥

अपने अस्तित्व को बिसारकर पति की सेवा में अपना पूर्ण रूपेण समर्पण कर देने वाली नारी ही पतिव्रता है । अपने इन्हीं सद्गुणों के कारण पतिव्रता सदैव अपने पति की प्रिय रहती है और इसके प्रतिकूल व्यभिचारिणी यत्र तत्र भटकती फिरती है:—

अपना बल सब छाड़ि दे सेवै तन मन लाइ ।
सुन्दर तब पिय रीझि करि राखै कंठ लगाइ ॥
पतिव्रता पति के निकट सुन्दर सदा हजूरि ।
बिभचारणि भटकति फिरै न्याय परै मुख धूरि ॥
पतिव्रता छाड़ै नहीं सुन्दर पति की सेव ।
बिभचारिणी औगुन भरी पूजै देवी देव ॥

पतिव्रता आध्यात्मिक जगत में उच्च तथा मौलिक जगत में पूज्य है । कारण कि वह धर्मानुकूल आचरण करती है । उसमें कर्तव्य और अकर्तव्य की भावना प्रधान रहती है । सुन्दर दास के अनुसार पातिव्रत धर्म ही समान धर्मों का मूल है । पातिव्रत धर्म की साधना करने वाली नारी यम नियमादिक की साधना करने वाले से उच्च है । पातिव्रत समस्त तीर्थों से भी पवित्र कर्म और धर्म है:—

पतिब्रत ही मैं शील है पतिब्रत मैं सन्तोष ।
सुन्दर पतिब्रत राम सौं वह ई कहिये मोष ॥
पतिब्रत मांहिं क्षमा दया धीरज सत्य बषांनि ।
सुन्दर पतिब्रत राम सौं याही निश्चय आंनि ॥
पतिब्रत ही मैं तप भयौ पतिब्रत ही मैं मौंन ।
सुन्दर पतिब्रत राम सौं और कष्ट कहि कौंन ॥
पतिब्रत ही मैं यम नियम पतिब्रत ही मैं दान ।
सुन्दर पतिब्रत राम सौं तीरथ सकल सनान ॥
पतिब्रत ही मैं योग है पतिब्रत ही मैं जाग ।
सुन्दर पतिब्रत राम सौं वहै त्याग वैराग ॥
सुन्दर जिन पतिव्रत कियौ तिनि कीये सब धर्म ।
जत्रहिं करै कछु और कृत तब ही लागै कर्म ॥

उपर्युक्त उद्धरणों में आंतिम उद्धरण विशेष रूप से विचारणीय और महत्वपूर्ण है। कवि के शब्दों में "जिन पतिव्रत कियौ तिनि कीये सब धर्म" अर्थात् अपने स्वामी में अनुरक्त होना उसके प्रति निच्छल व्यवहार करना ही समस्त आचार, विचार, धर्म कर्म आदि का मूल है। कवि के शब्दों में वही नारी सच्ची पतिव्रता है जिसका,

पति ही सौं प्रेम होइ पति ही सौं नेम होइ,
पति ही सौं क्षेम होइ पति ही सौं रत है।
पति ही है यज्ञ योग पति ही है रस भोग,
पति ही है जप तप पति ही कौ यह है ॥

पति ही है ज्ञान ध्यान पति ही है पुन्य दान,
पति ही तीरथ न्हांन पति ही कौ मत है ।
पति बिन पति नांहिं पति बिन गति नांहिं,
सुन्दर सकल बिधि एक पतिव्रत है ॥

'हरि', निर्गुण परब्रह्म को छोड़कर अन्य देव-देवियों, भूत-प्रेतादि की उपासना में संलग्न रहने को भी सुन्दरदास ने व्यभिचार माना है। कवि के अनुसार ब्रह्म को छोड़ करके अन्य देवताओं की उपासना उसी प्रकार निःसार है यथा अपने पति को छोड़कर अन्य व्यक्तियों के प्रेम रखने वाली स्त्री का प्रेम। जिस प्रकार अन्य व्यक्तियों में रत नारी न प्रतिष्ठा प्राप्त करती है न मान और न आध्यात्मिक जगत में उन्नति प्राप्त करती है ठीक उसी प्रकार एक ब्रह्म को त्याग कर अनेक देवताओं की उपासना में रत मनुष्य न सिद्धि प्राप्त कर पाता है न मुक्ति। निम्नलिखित पंक्तियों में कवि ने इसी भाव को व्यक्त किया है:—

जो हरि कौं तजि आन-उपासत सो मति मन्द फजीहति होई।
ज्यौं अपनैं भरतारहि छांड़ि भई बिभिचारिनि कामिनी कोई ॥
सुन्दर ताहि न आदर मान फिरै बिमुखी अपनी पति षोई ।
बूड़ि मरै किनि कूप मंझार कहा जग जीवत है सठ सोई ॥

पातिव्रत केवल मनुष्यों को ही उच्च नहीं प्रतीत होता है वरन् ब्रह्म ईश्वर को भी प्रिय है। सुन्दरदास के शब्दों में ही—

सुन्दर रीझै राम जी जाकै पतिव्रत होइ ।
रुलत फिरै ठिक बाहरी ठौर न पावै कोई ॥

संत कवि और खल जन

ग्रन्थ प्रणयन के पूर्व उसके सफल अन्त एवं सकुशल समाप्ति के हेतु परब्रह्म की वन्दना करने की एक परम्परा चली आ रही है। आदि कवि वाल्मीकि से लेकर आधुनिकतम प्रबन्ध और महाकाव्यकारों में से प्रत्येक ने इस परम्परा का अनुसरण किया है। इस परम्परा का श्रीगणेश संस्कृत साहित्य में उपलब्ध होता है और तत्पश्चात् हिन्दी के कवियों को इस परम्परा को जीवित रखने का श्रेय प्राप्त है। कवि कुल कमल कालिदास के प्रत्येक काव्य में आदि में स्तुति की गई है। यही बात हमें मैथिलीशरण गुप्त के काव्य ग्रन्थों में भी उपलब्ध होती है। जो मंगलकामना और मांगलिक भावना तब के कवियों में विद्यमान थी वह आज भी चली आ रही है। परन्तु शुभ कार्य की निर्विघ्न समाप्ति के लिए कवियों ने खल जनों की वन्दना की है। उदाहरणार्थ मानस का बालकाण्ड द्रष्टव्य है। खल-वन्दना प्रकरण के अन्तर्गत गोस्वामी तुलसीदास जी ने दुष्ट जनों की स्वभावगत विशेषतायें, उनके कार्यकलापों तथा व्यवहारों का बड़ा सुन्दर उल्लेख किया है। हिन्दी के सन्त कवियों ने भी यत्र तत्र दुष्ट अथवा दुर्जनों पर पर्याप्त लिखा है। परन्तु सन्तों ने दुष्ट वा दुर्जन पर जो कुछ लिखा है वह न तो वन्दना है, न प्रशस्ति, वरन् उन्होंने दुष्टों के हृदय एवं कार्यकलाप का दिग्दर्शन कराया है। उनके साहित्य में दुष्टों के स्वभाव, व्यवहार एवं बहुरूपता का अच्छा वर्णन हुआ है। सन्तों द्वारा उल्लिखित

'दुर्जन को अंग' अथवा 'दुष्ट को अंग' उनकी मौलिकता, वाक् चातुर्य एवं मनोवैज्ञानिकता का सुन्दर परिचायक है।

सन्तों और असन्तों के स्वभाव में उत्तरी ध्रुव एवं दक्षिणी ध्रुव के समान वैषम्य रहता है। एक परहित अपना उत्सर्ग कर देने वाले हैं, तो दूसरे स्वहित के लिए दूसरों का बलिदान कर देने वाले हैं। एक दूसरे की चिन्ता से चिन्तित रहते हैं तो दूसरे अन्य को मिटा देने की चिन्ता से व्यग्र रहते हैं। एक अपना अस्तित्व मिटाकर दूसरों का हित करते हैं तो दूसरे अन्य के अहित में ही अपनी जीवनज्योति को सजग पाते हैं। गोस्वामी जी के शब्दों में "मिलत एक दारुण दुख देहीं, बिछुरत एक प्राण हरि लेहीं"। इस प्रकार दोनों के स्वभाव में बड़ी विषमता है—बड़ा अन्तर है। सन्त कवियों ने सन्तों की वन्दना के पश्चात् तुरन्त ही दुष्टों के स्वभाव का उल्लेख करके दोनों की स्वभावगत विषमता को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर दिया है। दोनों प्रकरणों को पढ़ जाने के अनन्तर ज्ञात होता है कि सब सत्यं, शिवं, सुन्दरम् के उपासक, समदर्शी, मांगलिक एवं सबको सत्मार्ग पर अग्रसर और सुखी देखने के आकांक्षी हैं और खलजन इस सबके नितान्त विपरीत एवं विरोधी।

हिन्दी के सन्त कवियों में दुष्टों पर लेखनी उठाने वालों में कबीर[1], दादू[2], मलूक[3], सुन्दरदास[4], गरीबदास[5] और तुलसी साहब[6] विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। खलजनों के दुर्गुणों एवं स्वभाव का जितना विस्तृत विवेचन सुन्दरदास ने किया है उतने विस्तार से हिन्दी के अन्य कवियों ने नहीं उल्लेख

(१) संत वानी संग्रह भाग १ पृ० ३१ (२) स० ब०स० २ पृष्ठ ८८
(३) " " " " " १०२ (४) सुन्दर ग्रन्थावली पृ० ४४०
(५) संत वानी संग्रह भाग १ पृ० २०१ (६) स० ब० स० भाग १ पृ० २३५

किया। सुन्दरदास जी ने 'सुन्दरविलास' में 'अथ दुष्ट कौ अंग' शीर्षक के अन्तर्गत पांच छन्दों में दुष्टों के स्वभाव का निरूपण किया है और स्फुट साखी साहित्य में 'अथ दुष्ट को अंग' शीर्षक के अन्तर्गत इस विषय पर पचीस साखियों की रचना की है। इस प्रकार इस विषय पर कवि ने ३० छन्दों में अपने विचारों को अभिव्यक्त किया है।

खलजनों का स्वभाव बड़ा विचित्र होता है। वे सबकी ओर से शंकालु और सतर्क रहते हैं। वे अहम्मन्यता की मूर्ति होते हैं संसार के समस्त गुण अपने में ही आभासित मिलते हैं और उन्हें समस्त संसार दोषों और मूढ़ता का आगार प्रतीत होता है। खलजन हरिहर के यशरूपी चन्द्रमा के हेतु राहु के समान हैं। वे दूसरे का बना बनाया कार्य बिगाड़ने के लिए सहस्र बाहु के समान योद्धा हैं, दुष्ट लोग दूसरों के दोषों को इन्द्र के समान हजार नेत्रों से देखते और दूसरों के दोषों का अत्युक्तिपूर्ण वर्णन के लिए वे शेष नाग के सदृश्य सहस्रों मुखों का कार्य एक मुख और एक जिह्वा से करते हैं। दुष्ट जन अपने दोषों को छिपाने और दूसरों के दोषों को प्रकाशित करने में चतुर होते हैं। वे सर्वदा दूसरों के दोषों और दुर्गुणों को ही खोजा करते हैं। उनकी समस्त प्रतिभा छिद्रान्वेषण में ही खप जाती है। जिस प्रकार सुन्दर भव्य भवन में कीरी (चींटी) छिद्रों को खोजती फिरती है, ठीक उसी प्रकार खल जन प्रत्येक मनुष्य के दोषों और दुर्बलताओं की खोज किया करते हैं। उनके जीवन का प्रत्येक क्षण इसी प्रकार के कार्य में व्यतीत होता है। दुष्टों के स्वभाव का यह वर्णन कवि ने निम्नलिखित छन्द में रोचक ढंग से किया है:—

आपनें न दोष देषै पर के औगुन पेषै
दुष्ट कौ सुभाव उठि निंदाई करतु है ।
जैसैं काहू महल संभारि राष्यौ नीकै करि
कीरी तहां जाइ छिद्र ढूढ़त फिरतु है ॥
भोर ही तें सांझ लग सांझ हीतें भोर लग
सुन्दर कहत दिन ऐसैं ही भरतु है ।
पाव के तरोस की न सूझ आगि सूरष कौं
और सौं कहत सिर ऊपर बरतु है ॥

उपर्युक्त छन्द में खल जन के जिस स्वभाव की अभिव्यक्ति हुई है वही भाव निम्नलिखित साखियों में भी व्यक्त हुआ है। इन पठनीय साखियों को यहां उद्धृत करना असंगत नहीं प्रतीत होगा:—

अपने दोष न देषई पर कै औगुन लेत ।
ऐसौ दुष्ट सुभाव है जन सुन्दर कहि लेत ॥
सुन्दर दुष्ट स्वभाव है औगुन देषै आइ ।
जैसैं कीरी महल मैं छिद्र ताकती जाइ ॥
सूझत नांहिं न दुष्ट कौं पांव तरै की आगि ।
औरन के सिर पर कहै सुन्दर बासौं भागि ॥

दुर्जन हृदयस्थ बातों को निहित रखने और प्रकट रूप से भिन्न प्रकार की बातें करने में चतुर होते हैं। उनका हृदय प्रतिकार एवं प्रतिशोध की भावनाओं से आच्छादित होते हुये भी जिह्वा मधुर सम्भाषण में समर्थ रहती है[1]। उनके हृदय और

(१) सुन्दर कबहुं न धीजिये सरस दुष्ट की बात ।
मुख ऊपर मीठी कहै मन में घालै घात ॥

मस्तिष्क में नैकट्य न होकर दूरत्व की भावना रहती है। हृदय में हलाहल होते हुये भी वे मृदु भावों को व्यक्त करने में सफलीभूत रहते हैं। जिस प्रकार प्रतिहिंसा की भावना होते हुये भी व्याघ्र अपने शिकार के सम्मुख अत्यन्त नम्र बना रहता है उसी प्रकार का आचरण दुष्ट करते हैं[१]। दुष्ट का बहिरंग और अन्तरंग एक दूसरे से सर्वथा भिन्न एवं विरोधी होते हैं। कवि के शब्दों में खलजन का स्वभाव निम्नलिखित छन्द में पठनीय है:—

घात अनेक रहै उर अंतर दुष्ट कहै मुख सौं अति मीठी।
लोटत पोटत व्याघ्र हि त्यौं नित ताकत है पुनि ताहि की पीठी।
ऊपर तें छिरकै जल आनि सु हेठ लगावत जारि अंगीठी।
या महिं कूर कछू मति जानहुँ सुन्दर आंपुनि आंषिन दीठी॥

दुष्ट जन स्वार्थ के लिए दूसरों का अनर्थ तक कर डालते हैं। वे केतु (पुच्छलतारा) के उदय के समान हैं जिनका उदय-विकास सभी के लिए कष्ट प्रद है। वे दूसरों का अहित अकाज करने के लिए अपना शरीर तक नष्ट कर देते हैं यथा पाला और पत्थर दूसरे की खेती को नष्ट कर के स्वतः नष्ट (गल) हो जाते हैं। यदि किसी वस्तु विशेष में वे अपना लाभ नहीं देखते हैं तो अन्य के लिए उसकी उपयोगिता का ध्यान न कर के उसे विनष्ट कर डालते हैं। सत्य तो यह है कि दुष्ट जन कौन सी बुराई नहीं कर सकते ? वे हर एक प्रकार के दोषों की खान होते हैं अतः उन से समस्त विकारों को आशा है :—

---

(१) व्याघ्र करै ज्यों लुरषरी कूकर आगै आइ।
कूकर देषत ही रहै बाघ पकरि ले जाइ॥

दुष्ट बुरी ही करत है सुन्दर नैंकु न लाज ।
काम बिगारै और कौ अपनै स्वारथ काज ॥
पर कौ काम बिगारि दे अपनौ होउ न होइ ।
यह सुभाव है दुष्ट कौ सुन्दर तजिये वोइ ॥
घर षोवत है आपनौ औरनि हूँ कौ जाइ ।
सुन्दर दुष्ट सुभाव यह दोऊ देत बहाइ ॥[1]

सर्प मनुष्य को काटता है परन्तु उस से उस सर्प का कोई लाभ नहीं होता। आग वस्तुओं का दहन करती है परन्तु उस से उस आग का ही विनाश निश्चित हो जाता है। इसी प्रकार दुष्ट जन व्यर्थ ही दूसरे की हानि करते हैं। इन्हीं दुष्टों की बन्दना करते हुये गोस्वामी जी ने लिखा था "बहुरि बंदि खल-गन सति भाये। जे बिनु काज दाहिनेहु बाये॥ परहित हानि लाभ जिन केरे। उजरे हरष विषाद बसेरे॥" गोस्वामी जी के इसी भाव को हम सुन्दरदास के निम्नलिखित छन्द में अभिव्यक्त देखते हैं :—

ज्यौं नर पोषत है निज देह हि अन्न बिनाश करैं तिंहि बारा ।
ज्यौं अहि और मनुष्य हि काटत वाहि कछू नहिं होइ अहारा ॥

---

१ विचार साम्य की दृष्टि से कवि का निम्नलिखित छन्द भी पठनीय है।

आपुन काज संवारन कैं हित और कौ काज बिगारत जाई ।
आपुन कारज होउ न होउ बुरौ करि और को डारत भाई ॥
आपुहु षोवत औरहु षोवत षोइ दुवां घर देत बहाई ।
सुन्दर देषत ही बनि आवत दुष्ट करै नहिं कौन बुराई ॥

ज्यौं पुनि पावक-जारि सबै कछु आपुहु नाश भयौ निरधारा ।
त्यौं यह सुन्दर दुष्ट सुभाव हि जानि तजौ किन तीन प्रकारा ॥

दुष्ट जन विच्छू से भी अधिक भयंकर, सर्प से भी अधिक हिंसक और गज से भी अधिक शक्तिशाली हैं पर खल या दुर्जन इन सभी से अधिक कष्ट प्रद और घातक है। उपर्युक्त इन जीवों से उत्पीड़ित मनुष्य जीवित रह सकता पर दुष्ट ने जिस पर अपनी शनि दृष्टि फेरी वह फिर बच नहीं सकता है, उसका विनाश अवश्यम्भावी है। सुन्दरदास के शब्दों में दुष्टों की तुलना इन जीवों से पठनीय है :—

(क) बीछू काटे दुख नहीं सर्प डसै पुनि आइ ।
सुन्दर जो दुख दुष्ट तें सो दुख कह्यौ न जाइ ॥
गज मारै तौ नाहि दुख सिंह करै तन भंग ।
सुन्दर ऐसौ नाहि दुख जैसो दुर्जन संग ॥
सुन्दर जरिये अग्नि महि जल बूडे नहिं हांनि ।
पर्वत हीते गिरि परौ दुर्जन भलौ न जांनि ॥
सुन्दर झंपापात ले करवत धरिये सीस ।
वा दुर्जन के संग ते राषि राषि जगदीस ॥
सुन्दर विष हू पीजिये मरिये षाइ अफीम ।
दुर्जन संग न कीजिये गलि मरिये पुनि हीम ।

(ख) सर्प डसै सु नही कछु तालफ बीछु लगै सु भलौ करि मानै ।
सिंह हु षाइ तौ नांहि कछू डर जौ गज मारत तौ नहिं हानौ ॥

आगि जरौ जल बूडि मरौ गिरि जाइ गिरौ कछु सैमति आंनौ ।
सुन्दर और सबै भले सब ही दुख दुर्जन सग भलौ जिनि जांनौ ।

तथ्य यह है कि दुर्जन के सदृश और कोई दुखदाई नहीं है । संसर के समस्त दुःखदायी साधन दुर्जन की तुलना में अत्यन्त हीन हैं । स्वर्ग, पाताल और मृत्यु लोक में दुर्जन के समान कोई भी उत्पीडक नहीं है । इसीलिये दुर्जन की संगति वर्जित की गई है :—

सुन्दर दुर्जन सारिषा दुख दाई नहिं और ।
स्वर्ग मृत्यु पाताल हम देषे सब ही ठौर ॥
दुर्जन संग न कीजिये सहिये दुख अनेक ।
सुन्दर सब संसार मैं, दुष्ट समान न एक ॥

गोस्वामी जी के शब्दों में "वचन बज्र जेहि (दुष्ट को) सदा पियारा ।" दुर्जन व्यक्ति को व्यंग कूट और मर्मस्थल को झकझोर देने वाले वाक्य बोलने का बड़ा अभ्यास रहता है । व्यंग बोल कर अन्य को दुखी करना उसे बड़ा प्रिय रहता है । उस के व्यंग-वचन बाणों से भी अधिक दुखदायी और घातक होते हैं :—

जो कोउ मारै बान भरि सुन्दर कछु दुख नांहि ।
दुर्जन मारै वचन सौं सालतु है उर मांहि ॥

संत कवि दादू के मतानुसार दुष्टों से सदैव सतर्क रहना चाहिये क्योंकि ये जीवन पर्यन्त सतसंग करते हुये भी अपने स्वभाव को नहीं त्याग सकते हैं :—

कोटि बरस लौं राखिये बंसा चंदन पास ।
दादू गुण लीये रहै करे न लागै बास ॥

कोटि बरस राखिये पत्थर पानी मांहिं ।
दादू आडा अंग है भीतर भेदै नांहिं ॥

गरीबदास के अनुसार दुर्जन सतत् त्याज्य व्यक्ति है कारण कि जीवन पर्यन्त वेदों का अध्ययन करता हुआ भी वह ज्यों का त्यों रहता है। काले कम्बल पर दूसरा रंग नहीं चढ़ता कवि के शब्दों में ही :—

कमरी के रंग ना चढ़ै कोइला नहीं सपेद ।
सतगुरु बिन सूझै नहीं कहा पढ़त है वेद ॥

तुलसी साहब ने दुष्टों की प्रकृति का सुन्दर वर्णन निम्न-लिखित साखियों में किया है :—

कूड कुमति में गरक है फरक न मानै एक ।
जो कोइ अक्किल की कहै उरझै उलटि परेत ॥
कुटिल वचन बोलै सदा कधी न मानै हार ।
धार बह्यो बहु फिरत है कर्म कुमति अनुसार ॥

सन्त कवि और शून्य

'शून्य' शब्द का अर्थ है 'अभाव' वा 'नास्ति'। जिसका अस्तित्व नहीं है, जो वर्तमान नहीं है, वही शून्य है। जिस का अस्तित्व असार है अथवा मूल्यहीन है वही शून्य है। सन्तों ने संसार में 'राम' और 'नाम' के अतिरिक्त सभी कुछ शून्य कहा है। तात्विक दृष्टि से उनका तात्पर्य यही था कि संसार में सभी वस्तुयें अविद्या माया से आवृत हैं। माया विनाशशील है इसीलिए उस से आवृत वस्तु या व्यक्ति विनाशशील है। जिस दृष्टिकोण से उन्होंने संसार को देखा था वह प्रत्येक वस्तु में अस्थायित्व देखता था, प्रत्येक व्यक्ति में विनाश के तत्व देखता था। वस्तुतः इसी कारण उन्होंने समस्त संसार को 'शून्य' कहा। समक्ष भवन खड़ा है, प्रासाद वर्तमान है, उस पर चित्रकारी अंकित है, आवश्यक सामग्री से सुसज्जित है, पायलों की मधुर संगीत की ध्वनि से भरा हुआ है पर सन्तों ने उसे भी शून्य कहा। यही नहीं पर्वत जिन्हें हम अचल कहते हैं, अटल समझते हैं, उन्हें भी 'असार' और 'शून्य' कहा गया है। सन्तों में से प्रायः सभी ने 'शून्य' शब्द का प्रयोग किया है और एक विशिष्ट अर्थ में।

सन्तों का आविर्भाव बौद्धों की परम्परा में हुआ। कहना न होगा कि सन्तों की विचारधारा पर बौद्धों की धार्मिक विचार-धारा एवं चिन्तन की छाया स्पष्ट रूपेण परिलक्षित होती है। सन्तों ने बौद्धों की अनेक विचारधाराओं को यथातथ्य ग्रहण

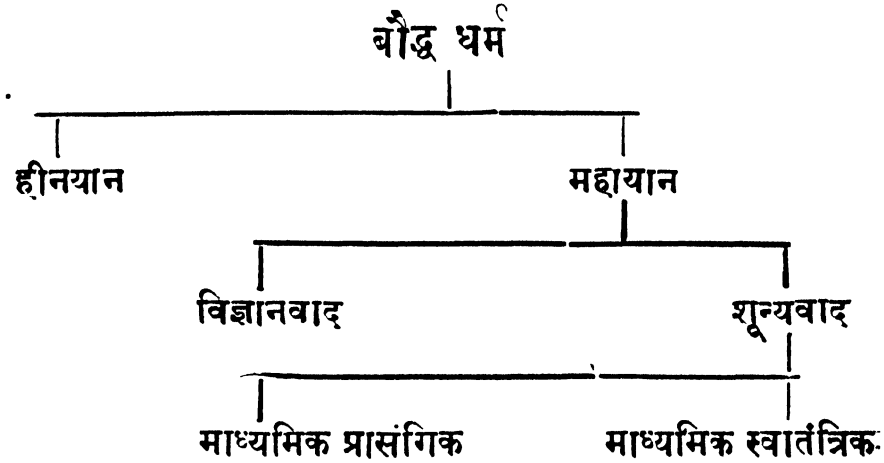
कर लिया है। उसी प्रकार उन्होंने बौद्धों के परम्परा से प्रयुक्त अनेकानेक शब्दों को भी यथातथ्य हू-ब-हू अपना लिया है। शून्य शब्द भी उन्हीं अनेक शब्दों में है जिसका जन्म बौद्धों के द्वारा होकर सन्तों के शांत साहित्य तक जीवित दृष्टिगत होता है। 'शू' तथा 'न्य' अक्षरों से विनिर्मित 'शून्य' अपने वाह्य रूप में प्रायः सभी द्वारा ग्रहीत हुआ पर उसकी आत्मा को प्रत्येक धारा अपनी इच्छानुसार अपने अभिप्राय के अनुकूल अपने वेग में वहा ले गई। "शून्य मितइण संसार" सिद्धान्त को तो सभी ने स्वीकार किया पर शून्य किस प्रकार हुआ और किस प्रकार मान्य है इस में वाद-विवाद और मतभेद है। 'शून्य' के वाह्यावरण पर मतैक्य रहा पर मतांतर पड़ा जाकर "केन प्रकारेण" पर।

'शून्य' शब्द हमारे धार्मिक साहित्य के लिए क्या सर्वथा अभिनव है ? नहीं। वह भाषा में अन्य शब्दों के साथ बना और प्रयुक्त हुआ। अन्तर यहां केवल प्रयोग में है। वैदिक साहित्य में 'शून्य' का जिस दिशा में प्रयोग हुआ है उस से कुछ भिन्न ही अर्थ में प्रयोग हुआ बौद्ध धर्म में। फिर महायान सम्प्रदाय में जा कर 'शून्य' शब्द एक 'वाद' का वाहक बना और एक सिद्धान्त का जन्मदाता। महायान सम्प्रदाय में स्वतः 'शून्य' के नामकरण पर विद्वानों और विचारकों का मत वैषम्य है। सिद्ध सम्प्रदायावलम्बी साधकों ने इसका प्रयोग किया, नाथ सम्प्रदाय वालों ने भी किया पर दोनों के प्रयोगों में कुछ अन्तर रहा। वास्तव में 'शून्य' शब्द भारतीय साहित्य के अत्यधिक मनोरंजक शब्दों में से एक है। प्रत्येक सम्प्रदाय ने इसका प्रयोग भिन्न-भिन्न अर्थों में क्यों किया, इसका उत्तर तो कोई भाषा शास्त्री ही दे सकेगा।

भगवान गौतम बुद्ध के सिद्धान्तों का पूर्ण परिपाक माध्यमिक मत के अन्तर्गत माना जाता है । इसी मत में बुद्ध की शिक्षाओं के सिद्धान्तों की आत्मा झलकती है । नागार्जुन महायान सम्प्रदाय के अनन्य प्रसिद्ध आचार्य थे । उन्होंने माध्यमिक मत की तार्किक विवेचना की । इस मत के जिन सिद्धान्तों की व्याख्या 'प्रज्ञापारमित सूत्रों' में हो चुकी थी, नागार्जुन ने उन्हीं की विवेचना और प्रसार के लिए माध्यमिक कारिका की रचना की । बुद्ध ने जीवन की दो चरम सीमाओं अखंड तापस एवं भोग-विलास का त्याग कर मध्यस्थ मार्ग की शरण ग्रहण की । इसी कारण इस सिद्धान्त का नामकरण 'मध्यम मार्ग' हुआ । तत्व विवेचन में शाश्वतवाद तथा मच्छेदवाद के दोनों एकांगी मतों का परिहार कर आपने 'मध्यम मत' को ग्रहण किया । बुद्ध के 'प्रतीत्य समुत्पाद' के सिद्धान्तों को विकसित कर शून्यवाद की प्रतिष्ठा की गई । अतः बुद्ध के द्वारा प्रतिपादित मध्यम मार्ग के दृढ़ पक्षपाती होने के कारण यह 'माध्यमिक' संज्ञा से अभिहित किया जाता है तथा शून्य को परमार्थ मानने से 'शून्यवादी' कहा जाता है । माध्यमिक मार्ग के प्रचार एवं प्रसार में नागार्जुन का बड़ा हाथ रहा । माध्यमिक कारिका की रचना कर के जहां एक ओर उन्होंने अपनी तार्किक प्रतिभा, असाधारण पाण्डित्य का उदाहरण प्रस्तुत किया, वहीं दूसरी ओर जगत् की सम्पूर्ण धारणाओं को तर्क की कसौटी पर कस कर निःसार उद्घोषित किया । विक्रम की द्वितीय शती में इन्हीं के विचारों को अधिक स्पष्ट करने के हेतु इन्हीं के शिष्य आर्यदेव ने एक ग्रन्थ की रचना की । तृतीय एवं चतुर्थ शताब्दी (विक्रमीय) में कोई बड़ा विद्वान् नहीं हुआ, जो इस दिशा में (शून्यवाद के लिए)

कुछ लिखता । पांचवीं शताब्दी में महायान सम्प्रदाय की विचारधारा के दूसरे अंग 'विज्ञानवाद' का प्राबल्य रहा। छठीं शताब्दी में शून्यवाद का पुनः विकास हुआ पर वह हुआ दक्षिण में। आचार्य भव्य ने उड़ीसा प्रान्त तथा आचार्य बुद्ध पालित ने बलभीर (गुजरात) प्रदेश में इसका प्रचार किया। यद्यपि ये दोनों ही आचार्य शून्यवाद के ही प्रचारक थे, पर दोनों के दृष्टिकोण में अन्तर था। बुद्धपालित के मतानुसार शून्यता के व्याख्यार्थ समस्त तर्क व्यर्थ हैं। ये शून्यता के ज्ञान का प्रसाधन प्रतिभा-चक्षु ही मानते थे। इसी कारण इनके द्वारा सम्पादित सम्प्रदाय माध्यमिक प्रांसगिक नाम से विख्यात हुआ। आचार्य भव्य ने नागार्जुन प्रतिपादित विचारधारा 'माध्यमिक मत' को जनता में समझाने के लिए स्वतन्त्र एवं नवीन तर्कों की सहायता ली। फलतः इनके सम्प्रदाय का नाम हुआ 'माध्यमिक स्वातन्त्रिक'। जनता पर इस प्रचार का अच्छा प्रभाव पड़ा। सप्तम शताब्दी (विक्रमीय) में आचार्य चन्द्रकीर्ति के द्वारा शून्यवाद के सिद्धान्तों का चरम विकास हुआ । इन्होंने अपने तर्कों के द्वारा आचार्य भव्य के तर्कों को निर्मूल सिद्ध कर दिया और इस प्रकार चीन, तिब्बत, मंगोलिया आदि में शून्यवाद के सिद्धान्तों के साथ ही अपनी ख्याति को स्थायित्व प्रदान किया। आचार्य चन्द्रकीर्ति के पश्चात् शान्तिदेव का नाम उल्लेखनीय है। इन्होंने भी शून्यवाद के प्रचार के लिए तीन ग्रन्थों की रचना की। तिब्बत प्रदेश में वे अपनी ख्याति से आज भी जीवित हैं, यद्यपि उनके भौतिक शरीर को सप्तम शताब्दी में ही निर्वाण प्राप्त हो गया था। अष्टम शताब्दी में माध्यमिक स्वतन्त्र सम्प्रदाय के आचार्य शान्तिरक्षित स्मरणीय हैं। इनका निर्वाण काल सन् ७६२ ई० मान्य है। सन ७४६ ई० में तिब्बत

के राजा के निमन्त्रण पर वहां जा कर इन्होंने वहां पर बड़ी लगन के साथ जनता में भगवान् के सिद्धान्तों का प्रचार किया। इस प्रकार से अष्टम शतक तक बौद्ध धर्म में शून्यवादी विचार कई धाराओं में प्रवाहित हुआ। निम्नांकित स्केच से इसका सम्यक् परिचय प्राप्त हो जाता है:—



सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से शून्यवाद के सिद्धान्तों को कई विद्वानों एवं प्रचारकों ने जनता में प्रचारित किया। इन सिद्धान्तों की सूची निम्नलिखित है—

क्रम संख्या सिद्धान्त

(१) ज्ञान मीमांसा
(२) सत्ता परीक्षा
(३) कारणवाद
(४) स्वभाव परीक्षा
(५) द्रव्य परीक्षा
(६) जाति
(७) संसर्ग विचार
(८) गति परीक्षा

(९) आत्म परीक्षा
(१०) कर्मफल परीक्षा
(११) ज्ञान परीक्षा
(१२) सत्ता मीमांसा
(१३) परमार्थ सत्य
(१४) व्यवहार की उपयोगिता

'शून्य' शब्द तथा शून्यवाद को समझने के लिए इनका अत्यन्त संक्षिप्त विवरण आवश्यक प्रतीत होता है।

ज्ञान मीमांसा

सर्व प्रथम सिद्धान्त है 'ज्ञान मीमांसा' का। नागार्जुन ने अपनी तर्क प्रतिभा के आधार पर यह सिद्ध किया कि यह जगत् मायिक है। स्वप्न जगत् के पदार्थों की भांति संसार भी निःसार, निराधार और क्षणिक है। संसार असिद्ध सम्बन्धों का संग्रह मात्र है। इस संसार में सुख, दुख, गति, विराम, बन्ध और मोक्ष आदि समस्त धारणायें स्वप्नवत् शून्य एवं कल्पना उद्भूत हैं।

सत्ता परीक्षा

इसके अन्तर्गत माध्यमिक आचार्य इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि समस्त सत्ता शून्य रूप है। प्रमाण एवं तर्क सत्ता को प्रमाणित करने में असमर्थ हैं। भगवान् बुद्ध का कथन "नहि चित्तं चित्तं पश्यति" इस सिद्धान्त का समर्थक है। चित्त स्वयं ही अपने को देखने में सर्वथा असमर्थ है। तीक्ष्ण असिधार दूसरी वस्तुओं को काटने में समर्थ है, स्वतः अपने को नहीं।[1] ज्ञेय, ज्ञाता, ज्ञान भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं, एक नहीं। तीनों का

(१) बौद्ध दर्शन, बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ ३१२, ३१३

त्रिस्वभाव होना सम्भव नहीं है। आर्यरत्न चूड़सूत्र की उक्ति इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है। चित्त का विकास, उसकी उत्पत्ति आलम्बन के अभाव में सम्भव नहीं है। चित्त आलम्बन से न भिन्न है, और न अभिन्न। तलवार से कहीं तलवार काटी जा सकती है ?

कारणवाद

दार्शनिकों एवं वैज्ञानिकों का दृढ़ विश्वास है कि जगत का संचालन कार्य-कारण नियम के आधार पर होता है, पर इस बात का श्रेय नागार्जुन को है कि उन्होंने तर्क के आधार पर इसको निःसार सिद्ध कर दिया। कार्य-कारण की स्वतन्त्र रूपेण कल्पना निराधार है। कोई भी पदार्थ कार्य एवं कारण से भिन्न नहीं माना जा सकता है। नागार्जुन ने सिद्ध किया कि पदार्थ न तो स्वतः उत्पन्न होते हैं और न दूसरी की सहायता से उत्पन्न होते हैं।

स्वभाव परीक्षा

संसार के समस्त पदार्थ किसी हेतु से उत्पन्न होते हैं। अतः उन्हें स्वतन्त्र सत्तावान् नहीं सिद्ध किया जा सकता है। आलम्बन के हटते ही अवलम्बित पदार्थ स्वतः विनष्ट हो जाता है। अतएव संसार में किसी पदार्थ की स्वतन्त्र सत्ता कल्पना मात्र है।

द्रव्य परीक्षा

सामान्यतया जगत में द्रव्य की सत्ता मात्र है पर परीक्षोपरान्त वह कल्पना मात्र रह जाती है। नागार्जुन ने द्रव्य के पारमार्थिक रूप का निषेध करके भी व्यावहारिक रूप का अपलाप नहीं किया है।

जाति

जाति का रूप, आकार क्या है ? क्या यह उन पदार्थों से पृथक् है जिनमें इसके निवास की कल्पना है ? तर्कों पर नागार्जुन ने इसे शून्य सिद्ध किया. सत्ताहीन और निराधार माना ।

संसर्ग विचार

संसार सम्बन्ध का समुदाय माना गया है । पर यह संसर्ग का सम्बन्ध असत्य है । अतः जगत् की कल्पना निर्मूल है ।

गति परीक्षा

माध्यमिक परीक्षा के द्वितीय प्रकरण में नागार्जुन ने लोक प्रचलित गति या गमन क्रिया की तीव्र आलोचना की । उनके अनुसार गति और स्थिति दोनों ही मायिक हैं ।

आत्म परीक्षा

उक्त ग्रन्थ के १८ वें प्रकरण में लेखक ने आत्म परीक्षा पर विचार किया है । अभी जो द्रव्य की कल्पना समझाई गई है उससे स्पष्ट होगा कि गण समुच्चय के अतिरिक्त उसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है । इसी नियम का प्रयोग कर हम कह सकते हैं कि मानस व्यापारों के अतिरिक्त आत्मा नामक पदार्थ की पृथक् सत्ता नहीं हैं । नागार्जुन की विशाल समीक्षा का सार प्रस्तुत श्लोक है:—

आह्मेत्यपि प्रज्ञापित मनात्मेत्यपि देशितम् ।
बुद्धै नात्मा न चानात्मा कश्चिदित्यपि देशितम् ॥

(मा० का० १८।६)

कर्मफल परीक्षा

कृत कर्म का फल अवश्य प्राप्त होता है, यह लोक विश्वास है। पर कर्मफल के इस सिद्धान्त की नागार्जुन ने बड़ी निन्दा की है। उन्होंने कहा है कि आवश्यक नहीं है कि कर्म का फल प्राप्त ही हो। नागार्जुन के शब्दों में:—

फलेऽसति न मोक्षाय न स्वर्गायोपपद्यते।
मार्गः सर्वक्रियाणां च नैरर्थक प्रसज्जते॥

ज्ञान परीक्षा

ज्ञान का स्वरूप बड़ा ही विवादपूर्ण है। दर्शन, श्रवण, घ्राण, रसन, स्पर्श और मन ये ६ इन्द्रियां हैं। विषयों का प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रियों के साधन से होता है। पर यह सत्य नहीं है, आभास मात्र है जो निरा निराधार है। साधारण दृष्टि से चाहे वे सत्य प्रतीत हों पर तथ्य तो प्रतिकूल है। नागार्जुन की तर्क समीक्षा का यही प्रतिफल है कि शून्य ही एक मात्र सत्ता है, जगत प्रतिबिम्बवत् क्षणिक है।

परमार्थ सत्य

वस्तु का वास्तविक स्वरूप ही सत्य है, परमार्थ है। वस्तु को यथार्थ रूप में देखने वालों का सत्य सांवृतिक सत्य से सिद्धान्ततः भिन्न है। वास्तव में परमार्थ है समस्त धर्मों की निःस्वभावता। संसार के सभी प्रतीत्यसमुत्पन्न पदार्थों की स्वभावहीनता ही परमार्थ का स्वरूप है। हेतु प्रत्यक्ष से समुत्पन्न होने के कारण उनका कोई विशिष्ट रूप नहीं है। निर्वाण ही परमार्थ सत्य है, परमार्थ सत्य मौन रूप है।

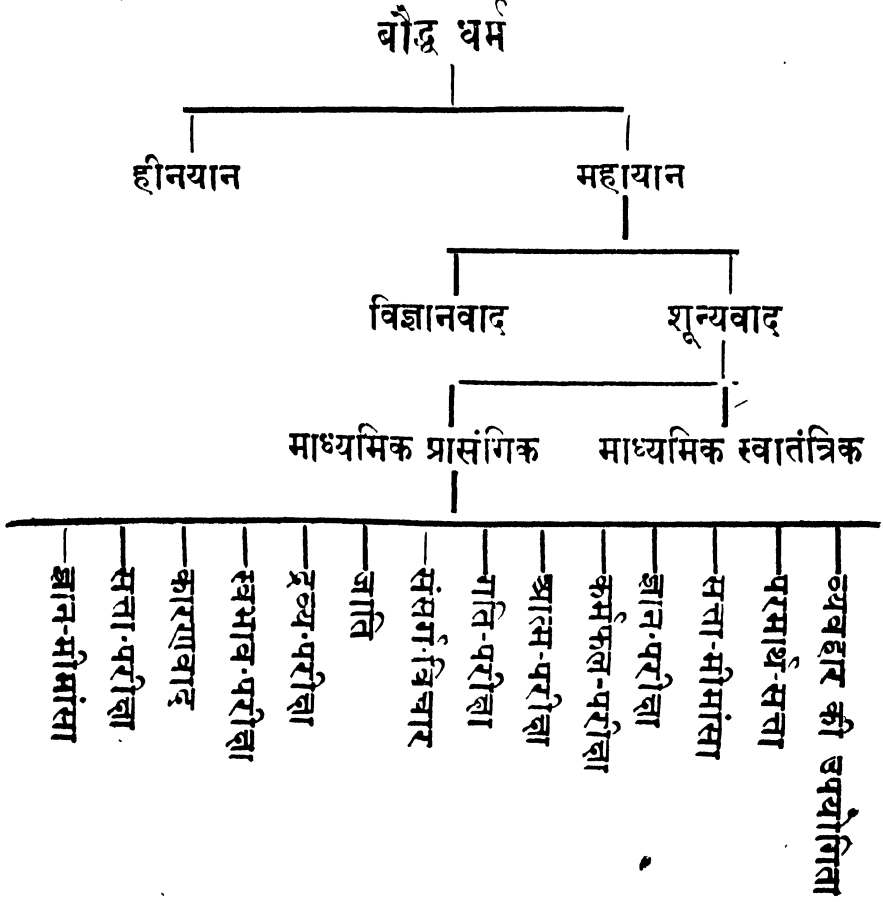
व्यवहार की उपयोगिता

व्यवहार के आश्रय के अभाव में परमार्थ का उपदेश

सम्भव नहीं है और परमार्थ के बिना निर्वाण असम्भव है। नागार्जुन के शब्दों में:—

व्यवहारमनाश्रित्य परमार्थो न देश्यते।
परमार्थिक नागम्य निर्वाणं नाधिगम्यते॥

इस प्रकार 'माध्यमिक प्रासंगिक' के प्रतिपादक नागार्जुन ने इन उपर्युक्त सिद्धान्तों के आधार पर तर्क के द्वारा जगत् के सभी तत्वों को निःसार, शून्य निर्धारित किया। नागार्जुन द्वारा तार्किक दृष्टि से शून्य सिद्ध होने वाले इन सिद्धान्तों का चित्र इस प्रकार से होगा:—



शून्यवाद

यही परमार्थ सत्य ही 'शून्य' नाम से अभिहित हुआ। 'शून्य' शब्द के आधार पर इस वाद का निर्माण हुआ। शून्यवाद के इस तात्विक स्वरूप के निरूपण में विचारकों का बड़ा मतवैषम्य है। हीनयानी आचार्य एवं ब्राह्मण जैन विद्वाना ने शून्य शब्द का अभिप्राय सत्ता का निषेध या अभाव किया। माध्यमिक आचार्यों के ग्रन्थों में शून्य का अर्थ 'नास्ति' या 'अभाव' नहीं सिद्ध होता है। नागार्जुन ने शून्य की व्याख्या 'शून्याशून्य' कह कर की; अर्थात् यह शून्य भी नहीं है और अशून्य भी नहीं है फिर भी इसे शून्य भी नहीं कह सकते हैं और अशून्य भी नहीं कह सकते हैं। शून्य शब्द का प्रयोग इसी भाव को ज्ञापित करने के लिए होता रहा है। नागार्जुन के शब्दों में:—

शून्यमिति न वक्तव्यं शून्यमिति वा भवेत्।
उभयं नोभयं नैव प्रज्ञाप्यर्थ तु कथ्यते॥

इस प्रकार से स्पष्ट है कि महायान सम्प्रदाय के साधना एवं चिन्तन पक्ष में शून्य के विषय में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्द्धन और परिवर्तन हुये। वज्रयान के विचारकों की कृपा से शून्यवाद ही संसार का 'सारतत्व' निर्द्धारित हुआ। 'शून्य' शून्य न रह गया वरन् माया के अतिरिक्त संसार में जो भी है उसे 'शून्य' संज्ञा दी गई। यहां तक कि संसार के सभी देवी-देवताओं की कल्पना विनष्ट हो गई और रह गया केवल 'शून्य'। इस सम्बन्ध में श्री क्षितिमोहन सेन का यह कथन पठनीय है—

"शहायान शाधनाय शून्य तत्वटि क्रमशः नाना भाव शूखे ओ ऐश्वर्य भारिया उठिते लागिल। क्रमें माध्यमिक मतवादे

बुद्ध, धर्म, ईश्वर, शवाई शून्य होइया उठिलेन । वज्रयान योगावार प्रभृति मतवादी देर कृपया शून्यई क्रमे होइया दांडाइल विश्वेर मूलतत्व । शून्य छांड़ा विश्व जगत् देव देवी प्रभृति कि छुई किछू नय शवई माया ।" (दादू पृ० १७६)

इन्हीं मतवादियों की विचारधारा से प्रभावित होने के कारण हिन्दी के सिद्ध कवियों के उपदेशों में एक मात्र 'शून्य' का ही गुण गान उपलब्ध होता है । 'शून्य' उस अवस्था का द्योतक है जहां द्वैत भावना विनष्ट हो जाती है और सत्, चित्त आनन्द की अनुभूति साधक को होने लगती है । यह 'शून्य' शरीर, मन एवं प्रज्ञा की पहुँच के ऊपर है । सिद्धों में यही 'शून्य' 'परमतत्व' है, यही 'परमसुख' है । यही शून्य उनकी साधना का 'चरम लक्ष्य' था । बौद्ध धर्म की परम्परा में होने के कारण ही इन सिद्धानीश्वरवादियों ने इस परम सुख 'ब्रह्मानन्द' की कल्पना नहीं की ।

नाथ सम्प्रदाय में शून्य शब्द का बड़ा प्रयोग हुआ है । सर्व प्रथम 'गोरख बोध' में गोरख नाथ और मत्स्येन्द्रनाथ के वार्तालाप में शून्य शब्द का प्रयोग देखिये:—

गोरख — कुण बोलै कुण सोवै,
कुण रूप में माया जोवै,
कुण रूप में जुगजुग रहै ?
सद्गुरु होइ सो पूछै कहै ।

मछंदर — शब्द बोलै सुरति सोवै ।

गोरख — कुणि सूनि उत्पन्ना,
सुंमि सूनि गुरि बुझाई ?

कुण सुनमें रहा समाई ?

मछन्दर सहजेन सुनि उत्पन्ना,

संगि सुनि सतगुरु बुझाई,

अजित सुनि में रहा समाई ।

स्पष्ट है कि सहज में अजित आत्मा ही शून्य में लीन हो जाती है। गोरखनाथ के काव्य में 'शून्य' शब्द खूब प्रयुक्त हुआ है। उदाहरणार्थ कुछ पंक्तियां यहां उद्धृत हैं:—

बसती न सुन्यं सुन्यं न बसती अगम अगोचर ऐसा ।

गगन सिषर महिं बालक बोलै ताका नांवधर हुगे कैसा ॥

(गोरखबानी पृ० १)

संत मत में 'शून्य' विषयक धारणा में पुनः एक नवीन और महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। ऊपर के विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि नाथ सम्प्रदाय में 'शून्य' का संकेत ईश्वर की ओर है, पर संत मत में इस धारणा में और भी विकास हुआ। संत मत में शून्य शब्द का प्रयोग निर्गुण सर्वात्मा के लिए भी हुआ है और 'सहस्र दल कमल' के लिए भी। सम्भवतः इसलिए कि ब्रह्म के निवास स्थान की कल्पना योगियों ने सहस्र दल कमल में की है और 'ब्रह्म' शून्य है इसलिए उसका निवास स्थान भी 'शून्य' ही है। ब्रह्मरन्ध्र का छिद्र शून्याकार होता है। इसी शून्याकार में कुंडलिनी का संयोग होता है। ब्रह्म का वास स्थान यहीं माना जाता है। साधक एवं योगी इस रन्ध्र का ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं। इसी शून्याकार के छः द्वार हैं जिन्हें कुंडलिनी के अतिरिक्त और कोई भी नहीं खोल सकता है। इसी की साधना में योगी रत रहते हैं।

डाक्टर रामकुमार वर्मा ने संतमत में 'शून्य' के विकास के विषय में लिखा है—"इसी 'शून्य' को कबीर ने आगे चल कर सहस्र दल कमल का 'शून्य' माना है जहां अनहद नाद की सृष्टि होती है और ईश्वर की ज्योति के दर्शन होते हैं।"(हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, द्वितीय संस्करण, पृ० १५३) परन्तु सन्तों का काव्य इस बात का प्रमाण है कि उन्होंने शून्य को दोनों ही अर्थों में ग्रहण किया, केवल सहस्र दल कमल के अर्थ में नहीं जैसा कि डाक्टर वर्मा का मत है। इस विषय पर सन्तों की कुछ बानियां विचारणीय एवं अध्ययनीय हैं।

ऊपर उल्लेख हो चुका है कि सन्तों ने शून्य शब्द का प्रयोग दो अर्थों 'ब्रह्म' एवं 'शतदल कमल' में किया है। इस शब्द का प्रयोग कबीर, दादू, नानक, मलूक, गरीबदास, धरनीदास, रैदास, यारी साहब, चरनदास, दूलनदास आदि सभी सन्तों ने अपने काव्य में किया है। शून्य शब्द का प्रयोग 'सहस्र दल कमल' के अर्थ में करने वालों में विशेष रूपेण उल्लेखनीय हैं कबीरदास, चरनदास, धरनीदास, भीखा, तुलसी साहब, रैदास और धनी धर्मदास एवं यारी साहब, गरीबदास, भीखा, दयाबाई, सहजोबाई, पलटू साहब, तुलसी साहब आदि उन सन्तों में उल्लेखनीय हैं, जिन के 'शून्य' शब्द से निर्गुण सर्वात्मा की ओर संकेत मिलता है। प्रथम वर्ग के इन मतवादियों ने 'सुन्न गढ़', 'सुन्न महल', 'सुन्न मंडल' तथा 'सुन्न बस्ती' में विचरण करने का उल्लेख भी किया है और इन्हीं में से कतिपय सन्तों ने 'सुन्न सरोवर' में स्नान करने का वर्णन भी किया है।

अन्य साधकों की अपेक्षा 'सुन्न सिखर' और 'सुन्न गढ़'

में प्रवेश पाने के लिये कबीर अधिक उत्सुक एवं व्यग्र प्रतीत होते हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि कबीर को उस शिखर पर अधिकार प्राप्त था। वे उस दिव्य प्रदेश की झांकी पा चुके थे और वहां के अक्षय सुख का भी अनुभव कर चुके थे। इसीलिये वे टन्टे-बन्टे में मस्त, बाह्याडम्बरों में संलग्न साधकों को 'सुन्न गढ़' पर विजय प्राप्त करने अथवा सुन्न मंडल में प्रवेश करने एवं उद्योगशील होने के लिये उपदेश देते हैं।[१] 'सुन्न मंडल' में प्रवेश पाते ही अनहद नाद की माधुर्य से ओतप्रोत संगीतात्मक ध्वनि प्रतिश्रुत होने लगी। मोह और अज्ञान का प्रकाश तिरोभूत हो गया, दिव्य प्रकाश से जीवन आलोकित हो गया और दीनदयालु के दर्शन हुये।[२] इसी प्रकार स्थान स्थान पर साखियों में कबीर ने 'सुन्न महल' में नौबत, किंगरी एवं सितार आदि वाद्यों के ध्वनित होने का और उनके अनुभव का उल्लेख किया है। गरीबदास ने 'सुन्न सिखर' में हंस के विश्राम[३] एवं 'सुन्न सरोवर' में हंस के स्नान[४] करने का वर्णन किया है। इसी प्रकार गरीबदास ने 'सुन्न बस्ती',[५] 'सुन्न मंडल',[६] 'सुन्न सरोवर',[७] 'सुन्न सिखर गढ़'[८] आदि का वर्णन किया है जहां शब्दातीत ब्रह्म का निवास स्थान है।[९] गरीबदास ने सुन्न सरोवर में स्नान करने[१०] और सुन्न महल में प्रवेश के

---

१ रोम रोम दीपक भया प्रकटे दीनदयाल। स० बा० सं०, भाग, पृ० ८

२ सुन्न मंडल में घर किया बाज सबद रसाल।

३ सुन्न महल में नौबत बाजै किंगरी बीन सितारा।

४ सुन्न सिंखर के महल में हंस कियो बिश्राम। गरीबदास की बानी, १

५ गरीबदास की बानी, पृ० १८, ६ गरीबदास की बानी, पृ० २१-३२

७ ,, ,, १६, ८ ,, ,, २५-३३

९ ,, ,, २६, १० स० बा० सं०, भाग १

लिए [१] साधन करने का अनेक बार उपदेश दिया है। कबीर एवं गरीबदास की भांति ही सुन्न सरोवर, एवं सुन्न महल के लिए साधकों को प्रयत्नशील रहने के लिए सचेष्ट करने वालों में चरनदास,[२] धरनीदास,[३] भीखा,[४] तुलसी साहब,[५] रैदास,[६] धनी धर्मदास [७] और यारी साहब [८] उल्लेखनीय हैं। धनी धर्मदास ने तो एक स्थान पर[९] सुन्न महल से अमृत की वर्षा का हवाला दे कर संतों को उसी में नहाने का उपदेश किया है :—

सुन्न महल से अमृत बरसे। प्रेम अनन्द ह्वै साध नहाय॥

खुली किवरिया मिटी अंधरिया। धन सतगुरु जिन दिया है लखाय।

और यारी साहब ने सुन्न (सहस्र दल कमल) को अन्य सन्तों की भांति बड़े स्पष्ट शब्दों में 'मालिक' के निवास का स्थान बताया है :—

सुन्न के मुकाम में बेचून की निसानी है।
जिकिर रूह सोई अनहद बानी है॥

(स० वा० सं०, भाग २, पृ० १४५)

शून्य शब्द से ब्रह्म की ओर संकेत करने वालों की सूची

---

१ स० वा० सं०, भाग २, पृ० १६६,
२ चरनदास की बानी, पृ० ५१, १२०
३ धरनीदास की बानी पृ० १५
४ भीखा साहब की बानी, १०, १७, ४०, ६४
५ स० वा० संग्रह, पृ० २३३ ६ स० वा० संग्रह भाग २, पृ० ३३
७ ,, ,, ४२ ८ ,, ,, ११-१४५
९ स० वा० संग्रह, भाग २ पृ० ४२

ऊपर दी जा चुकी है। कथन के समर्थन में कतिपय साखियां यहां उदाहरणार्थ उद्धृत की जाती हैं :—

गरीबदास

सुन्न विदेसी मिल गया छत्र मुकुट है सीस।

(बानी, पृ० ११)

सुन्न सनेही रम रहा दिल अन्दर दीदार।

(बानी, पृ० २०)

धरनीदास

सर्व सुन्न कै सुन्न एकै, दूसरी जनि राख।

(बानी, पृ० ३५)

भीखा

वहतो सुन्न निरन्तर धुधुकत, निज आतम दरसाई।

(बानी, पृ० ३२ तथा देखिये पृ० ४१, ४२,
स० वा० भाग पृ० २१३)

इस प्रकार प्रत्येक विचार धारा में उसके मतवादियों की कृपा से 'शून्य' शब्द का अर्थ बदलता गया। आज शून्य का अर्थ नितान्त भिन्न अर्थ में ग्रहण किया जाता है।

संत कवि और सोऽहं

'सोऽहम्' का अर्थ है 'वही (परब्रह्म) मैं हूँ।' सोऽहम् का मुख्य सिद्धान्त है ब्रह्म और जीव की अभिन्नता एवं एकता। सोऽहम् ब्रह्म रूप के चिन्तन का दृढ़ आधार और मुख्य सोपान है। सन्तों ने इसी आधार का आश्रय ग्रहण करके साधना के क्षेत्र में सफलता प्राप्त की। हिन्दी के सन्त कवियों के काव्य साहित्य में सोऽहम् अनुभूति की अभिव्यक्ति हुई है। कबीर एवं सुन्दरदास ने बड़े ही स्पष्ट शब्दोंमें अपने को ब्रह्ममय अथवा 'वही ब्रह्म मैं हूँ' उद्घोषित किया है। सोऽहम् में साधक की अनुभूति की गहनता और गम्भीरता दृष्टिगत होती है। वेदों से लेकर सन्तों के साहित्य तक 'सोऽहम्' का महत्व और विशेषता वर्णित है। सोऽहम् वाद की इस महान् परम्परा में सन्तों के साहित्य का विशेष स्थान है कारण कि भारतीय धर्म और दर्शन के महान् संक्रांति काल में भी सन्तों ने इस सिद्धांत को सजीव रखा। भेद भाव के आधार पर निर्मित समाज में इन सन्तों ने ही प्रत्येक वर्ग एवं वर्ण के व्यक्तियों को समानरूप से सोऽहम् की अनुभूति का अवसर प्रदान किया। 'सोऽहम्' विषयक संतों के विचारों का अध्ययन करने के पूर्व सोऽहम्वाद के सिद्धान्तों का विवेचन आवश्यक प्रतीत होता है।

सांख्य योग के अन्तर्गत पुरुष एवं प्रकृति को नित्य पदार्थ माना है। इन दोनों ही में सांख्य योग के आचार्यों ने पुरुष को उदासीन एवं प्रकृति को समस्त भ्रमों का मूल स्रोत, प्रधान

उद्गम एवं कर्मशीला माना है। इसी कारण सांख्य योग ने ज्ञान द्वारा कष्टों के निवारण का मार्ग प्रदर्शित किया है। कुछ समय के अनन्तर कतिपय विचारकों ने सांख्य के इन दो तत्वों पुरुष एवं प्रकृति में एक और तत्व 'ईश्वर' को जोड़ दिया। सांख्य में विचार विषयक इस विकास के अनन्तर कतिपय सुधारवादी विचारकों ने सांख्य के इन तत्वों और लक्ष्यों को स्वीकार करते हुए भी उन में अनुभूत के अभाव को दूर करने का प्रयास किया। उन विचारकों ने 'ईश्वरासिद्धेः की अपेक्षा 'सोऽहम्' सिद्धान्त को स्वीकार किया। 'ईश्वरासिद्धेः' के स्थान पर 'सोऽहम्' की प्रतिष्ठा कर के उन्होंने सांख्य दर्शन को अधिक रुचिकर एवं बोधगम्य बनाने का प्रयत्न किया। सोऽहमवाद के प्रस्तुत विकास से ईश्वर-निरीश्वर के विवाद को प्राधान्य न देकर समस्त मानव को ब्रह्म का स्वरूप देकर अथवा ब्रह्म के रूप में मानकर उसे एक समान शक्तियों से सम्पन्न, एक ही आदर्श, एक ही लक्ष्य की ओर गतिमान किया। सोऽहमवाद के सिद्धान्तों के प्रचार एवं प्रसार से ऐक्य संस्थापना हुई एवं पारस्परिक अन्तर भी दूर हो गया।

सोऽहम के दार्शनिक सिद्धान्तों में जीव एवं ब्रह्म में पूर्ण साम्य है, उन में भेद एवं अन्तर के हेतु कोई स्थान नहीं है। जीव एवं ब्रह्म की अभिन्नता ही सोऽहमवाद का प्रधान लक्ष्य है। सोऽहमवाद और सांख्य में विचारधारा एवं आदर्श विषयक प्रायः सब प्रकार का साम्य है। सांख्य में ब्रह्म प्राप्ति का भाव मान्यता नहीं प्राप्त कर सका तो सोऽहमवाद में ब्रह्म की प्राप्ति करने की कोई आवश्यकता नहीं है कारण कि जीव और ब्रह्म में नितांत अभिन्नता है। सांख्य में पुरुष एवं प्रकृति तत्व मान्य हुए हैं तो सोऽहम् में ब्रह्म एवं जीव। सांख्य में

क्लेशों का दोष और मूलकारण भ्रांति माना गया है, तो सोऽहम्वाद में क्लेशों का दोष अविद्या मान्य हुआ है। सांख्य में अपवर्ग प्राप्ति का साधन ज्ञान है; सोऽहम् में भी मोक्ष की प्राप्ति के लिये ज्ञान साधन माना गया है। सांख्य में यह दृश्य जगत अनित्य एवं मायिक है तो सोऽहम् में भी संसार मायिक, क्षणिक और मिथ्या माना गया है। पर सोऽहम् के प्रचारकों को सांख्य की यह विचारधारा शुष्क और अप्रिय प्रतीत हुई इसलिए उन्होंने योग के ब्रह्म और सांख्य के पुरुष का समन्वय कर 'सोऽहम्' द्वारा जीव एवं ब्रह्म की अभिन्नता का उपदेश दिया। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि ब्रह्म एवं जीव के मध्य दृष्टिगत होने वाला भेद ही माया है। सोऽहम् वादियों ने जीव को न केवल ब्रह्म से अभिन्न माना वरन् उन्होंने ब्रह्म को सच्चिदानन्द स्वरूप बताकर जीव को भी सच्चिदानन्द ही उद्घोषित किया। इस दृष्टिकोण से 'पंचदशी' का निम्न-लिखित श्लोक पठनीय है :—

अवेद्योऽप्यपरोक्षोतः स्वप्रकाशो भवत्ययम्।
सत्यं ज्ञानमनन्तं चेत्यस्वीह ब्रह्मलक्षणम्॥
(पंचदशी ३–२८)

वेदांत का प्रारम्भिक एवं पुरातन रूप सोऽहम्वाद के रूप में पुष्पित एवं पल्लवित हुआ। इसका समर्थन सांख्य से हुआ और पुराणों एवं उपनिषदों में इस रूप में विद्यमान है। बाद में लिखित उपनिषदों में यही सोऽहं ने ब्रह्मवाद का रूप ग्रहण कर लिया। ऋग्वेद के 'पुरुष सूक्त' में अखिल ब्रह्माण्ड में व्याप्त उस महान पुरुष के निम्नलिखित स्वरूप चित्रण में मानव की रूप रेखा का साम्य परिलक्षित होता है:—

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।
मुखादिंद्रश्चाग्निश्च प्राणद्वायुर जायत॥१३॥

नाभ्या आसीदंतरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत ।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकां अकल्पयन् ॥१४॥
(ऋग्वेद १०–९०)

अर्थात् उसके नेत्र से सूर्य, मस्तिष्क से सुधांशु, मुख से इन्द्र एवं अग्नि, सांस से वायु, नाभी से हवा, शिर से आकाश एवं पैर से पृथ्वी का जन्म हुआ। उस विराट पुरुष के रूप का वर्णन अथर्ववेद में भी उपलब्ध होता है। ऋग्वेद एवं अथर्ववेद के उस वर्णन में पूर्णसाम्य उपलब्ध होता है। अथर्ववेद के अनुसारः—

यस्य भूमिः प्रामान्तरिक्षमुतोदरम् ।
दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥३२॥
यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमश्च पुनर्णवः ।
अग्निं यश्चक्र आस्यंतस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणेनमः ॥३३॥

अर्थात् पृथ्वी उस विश्व पुरुष का पैर है, वायु उदर है, सूर्य चन्द्र नेत्र हैं, अग्नि मुख है एवं हवा ही सांस है। ऋग्वेद में तो और भी स्पष्ट उद्धरण मिलते हैं जिनके अनुसार जीव में ही ब्रह्मकी व्यापकता प्रमाणित करने का प्रयत्न किया गया है। प्रमाण के लिये प्रस्तुत श्लोक भी पठनीय एवं विचारणीय है:—

अनच्छये तुरगातु जीवमेजद्ध्रुवं मध्य आपस्त्यानाम ।
जीवो मृतस्य चरित स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः ॥
(ऋग्वेद १–१६४–३१)

इस प्रकार वेदों ने मानव और ब्रह्म में ऐक्य एवं अभिन्नता स्थापित करने में बड़ी सहायता प्रदान की। वेद के पाठकों एवं अध्ययन करने वालों ने यजुर्वेद के, निम्नलिखित श्लोक के द्वारा ब्रह्म एवं जीव की एकात्मता की सुन्दर व्याख्या पाकर

सूत्र रूप में 'सोऽहम्' को मूल सिद्धांत निर्धारित किया।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितम्मुखम्।
योसावादित्ये पुरुषः सोसावहम्॥ ओ३म् खम्ब्रह्म॥
(शुक्ल यजुर्वेद ४०–१७)

इस प्रकार से वेद का मूल सिद्धांत सोऽहम् के रूप में निर्धारित हुआ। वेदांतियों ने सोऽहमवाद के द्वारा जीव एवं ब्रह्म की अभिन्नता का प्रचार किया। जनता के लिए सोऽहमवाद बड़ा ही आकर्षक सिद्धान्त प्रतीत हुआ। साधकों को इस मूल सिद्धांत एवं मंत्र से साधना में बल मिला। 'वही मैं हूँ' के भाव ने साधकों में आत्मिक बल की प्रतिष्ठा की। 'उसके' समान उच्च एवं महान बनने के लिए साधकों को प्रेरणा मिली। इस प्रकार कालान्तर में सोऽहमवाद के समर्थक बढ़े। ईशोपनिषद[1], वृहदारण्यकोपनिषद[2], श्वेताश्वतर[3] में इस सूत्र का उल्लेख बार-बार हुआ है। वृहदारण्यकोपनिषद में एक स्थान पर ब्रह्म को आत्मा में ही प्राप्य बताया गया है। इसी भाव का

---

(१) वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम्—ईशोपनिषद् १७

(२) वृहदारण्यकोपनिषद ३–२–१३ तथा
"स योऽत एकैकमुपास्ते न स वेदाकृत्स्नो ह्येषोऽत एकैकेन भवत्यात्मेत्येवोपासीतात्र ह्येते सर्व एकं भवन्ति। तदेतत्पदनीयमस्य सर्वस्य यदयमात्माऽनेन ह्येतत्सर्वं वेद। यथा ह वै पदेनानुविन्देदेवं कीर्तिं श्लोके विन्दते य एवं वेद।" वृहदारण्यकोपनिषद १–४–७

(३) श्वेताश्वतर २–१५

समर्थन छान्दोग्य[1], तैत्तिरीय[2] एवं मैत्री[3] द्वारा अनेक बार अनेक स्थलों पर हुआ है। सोऽहम्वाद की भावना के विकास में छान्दोग्य उपनिषद एवं वृहदारण्यक उपनिषद् का विशेष हाथ रहा। वृहदारण्यक उपनिषद् का निम्नलिखित उद्धरण सोऽहम् के भाव को कितने स्पष्ट, निकट और सत्य रूप में पाठकों के समक्ष उपस्थित करता है:—

योऽसा वसौ पुरुषः सोऽहमस्मि (५–१५–१)

मानव और ब्रह्म की एकात्मकता का एक और उद्धरण ईशोपनिषद् से उद्धृत किया जाता है:—

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य आजायत्य व्यूह रश्मीन्समूह।
तेजोयत्ते कल्या ुतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ
पुरुषः सोहऽमस्मि। (ईशोपनिषद् १६)

सोऽहम्वादी प्राप्ति, सिद्धि और मुक्ति के लिए व्यर्थ ही साधना नहीं करता फिरता है। सोऽहम् के सिद्धांत को हृदयंगम कर लेने के पश्चात् उसके लिए सिद्धि निःसार, प्रयोजन रहित और आकर्षण रहित सिद्ध हो जाती है। वह जानता है कि उससे परे कुछ भी नहीं है, वही सर्वत्र व्याप्त है और वह

---

(१) समान उ एवायं चासा चाऽमुष्मोऽसौ स्वरइतीतममाचक्षते स्वरइति प्रत्यास्वर इत्यमुं तस्माद्वा एतमिममभुं चोद्गीमुपासीत (छान्दोग्य० १–३–२)

एवं अथ य एषोऽन्त रक्षिणी पुरुषो दृश्यते सैवतर्कत्साम तदुक्थं तद्यजुस्तद्ब्रह्म तस्यै तस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपं यावमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ यन्नाम तन्नाम छान्दोग्य० १–७–५

(२) स य श्चायं पुरुषे। यश्चा सावादित्ये। स एकः (तैत्तिरीय २–८)

(३) यश्चैषोऽग्नौ यश्चायं हृदये यश्चासा आदित्ये स एष एकाइत्येकस्य हैकत्वमेति य एवं वेद। (मैत्री ६–१७)

स्वयं ही 'वह' है, ब्रह्म है। ब्रह्म पद पर स्थापित होने के अनन्तर उसमें अभिलाषायें नहीं उत्पन्न होती, कामनाएं समाप्त हो जातीं, लोकाचार से उसे घृणा हो जाती है। समाज विनिर्मित नियमों की वह परवाह नहीं करता है, संसार उसे प्रतिकूल मार्ग पर अग्रसर दीख पड़ने लगता है। इसीलिए वह अपने संसार में विचरण करता रहता है। उसके संसार में न दुख है न सुख है, न हर्ष है न विषाद है, न प्रलोभन है न पुरस्कार है, न उच्च है न नीच है। उसके संसार में केवल वही है, वह विश्वात्मा के रूप में अपने को कण कण में व्याप्त देखता है। माया उसका स्पर्श तक नहीं कर पाती है। शांति, सरलता, निष्पक्षता और निर्लिप्तता उसकी प्रकृति के विशेष गुण बन जाते हैं। वह मानव मानव में भेद की भावना विसर जाती हैं। इसी स्तर पर पहुँच कर ईसा ने कहा था, "I and my father are one"।

ईसा की उपर्युक्त उक्ति से स्पष्ट है कि सोऽहम् की अनुभूति के अनन्तर मानव अन्य मनुष्यों से अपना भेद नहीं समझता। अथवा कहिये कि उसकी समस्त भेद बुद्धि विलीन हो जाती है और उसके हृदय एवं मस्तिष्क में सोऽहम् भावना विद्यमान होने के कारण समता एवं अभिन्नता की भावना अंकुरित हो उठती है। मानव मानव में अभिन्नता है, मानव वही ब्रह्म स्वयं है। सोऽहम् की यह भावना हिन्दी के सन्त कवियों में अत्यधिक उपलब्ध होती है। कबीरदास, सुन्दरदास, पलटू साहब, गुलाल साहब, गरीबदास, दयाबाई, वुल्लेशाह, मलूकदास आदि के साहित्य में उनकी सोऽहम् की अनुभूति समान रूप से अभिव्यक्त मिलती है।

संत कवि भीखा 'सोऽहं' को आत्म देखने का एक

बहुमूल्य साधन मानते हैं जिसकी अनुभूति युक्ति पूर्वक योगाभ्यास से ही सम्भव है ।[१] दयाबाई के अनुसार सोऽहं वह अजपाजप है जिसकी साधना के द्वारा मनुष्य पाताल से आकाश में गति प्राप्त कर लेता है । तात्पर्य यह है की सोऽहं की साधना से मानव ब्रह्ममय होजाता है ।[२] संत कवि मलूकदास ने बारम्बार सोऽहं-साधना का उपदेश दिया है, कारण कि सोऽहं साधना मात्र से जीव ब्रह्ममय होजाता है और भव बाधाओं से ऊपर होजाता है । संसार के त्रय-तापों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता है ।[३] गुलाल साहब[४] और कबीर दास[५] ने सोऽहं को ब्रह्म तक पहुँचने की डोरी माना है । इसी प्रकार बुल्लासाहब की निम्नलिखित पंक्तियां बड़ी रोचक प्रतीत होती है:—

सोहं हंसा लागलि डोर
सुरति निरति चढ़ु मनवां मोर ॥१॥
झिलिमिलि झिलिमिलि त्रिकुटी ध्यान
जगमग जगमग गगन तान ॥२॥

---

(१) जोग जुक्ति अभ्यास करि सोहं सबद समाय ।
भीखा गुरु परताप ते निज आतम दरसाय ॥
स० बा० स० भाग १ पृष्ठ २१०

(२) अजपा सोहं जाप है परम गम्य निज सार । स० बा० स० १, १६६

(३) सन्तों सोहं साधन कीजै ।
सोहं साधन ते ताप मिटत है, जीव ब्रह्म होइ जाये ।
(शब्द संग्रह अप्रकाशित)

(४) स० बा० स० भाग २ पृष्ठ २०५ • (५) स० ब० स० भाग १ पृ ७

गह गह गह अनहद निसान ।
प्रान पुरुष तहं रहत जान ॥३॥
लहरि लहरि उठि पछिंव घाट
फहरि फहरि चल उतर बाट ॥४॥
सेत बरन तह आवै आप
कह चुल्हा सोइ माइ बाप ॥५॥[1]

गरीबदास जी ने सोऽहं को ही ब्रह्म माना है:—

तुमही सोहं सुरत हौ तुमहीं मन अरु पौन ।
इसमें दूसर कौन है आवै जाय सो कौन ॥

स० बा० स० भाग १ पृ० १६२

इन सन्तों में सुन्दरदास के काव्य में सोऽहं का भाव बड़े ही स्पष्ट रूप से व्यक्त हुआ है । कवि की निम्नलिखित पंक्तियां प्रस्तुत कथन की समर्थक हैं:—

सब संसार आप मैं दिषै । पूरण आपु जगत महिं पेषै ।
आपुहि करता आपुहि हरता । आपुहि दाता आपुहि भरता ।
आपु ब्रह्म कछु भेद न आनै । अहं ब्रह्म ऐसै करि जानै ॥
अहं परात्पर अहं अखण्डा । व्यापक अहं सकल ब्रह्मण्डा ॥
अहं निरंजन अहं अपारा । अहं निरामय अरु निरकारा ॥
अह निलेप अहं निज रूपं । निर्गुण अहं अहं सु अनूपं ।
अहं सुख रूप अहं सुख राशी । अह सु अजर अमर अविनाशी ॥

---

(१) स० बा० स० भाग २ पृ० १७१

अहं अनन्त अहं अद्वीता । अहं सु अज अव्ययं अभीता ॥
अहं अभेद्य अछेद्य अलेषा । अहं अगाध सु अकल अदेषा ॥
अहं सदोदित सदा प्रकाशा । साक्षी अहं सर्व महिं बासा ॥
अहं शुद्ध साक्षात सुन्यारा । कर्ता अहं सकल संसारा ॥
अहं सवि सूक्षम सव सृष्टा । अहं सर्वज्ञ अहं सब द्रष्टा ॥
अहं जगन्नाथ अहं जगदीशा । अहं जगपति अहं जगईशा ॥
अहं गोविन्द अहं गोपालं । अहं ज्ञानधन अहं निरालं ॥

(सु० ग्र० भाग १ पृ० ११२–११३)

तथा

सोहं सोहं सोहं सोहं । सोहं सोहं सोहं अंसो ॥
स्वासो स्वासं सोहं जापं । सोहं सोहं आपै आपं ॥

(सु० ग्र० भाग १ पृष्ठ ४७)

इन पंक्तियों में कवि की सोऽहं विषयक धारणा स्पष्ट होजाती है । "अहं जगन्नाथ अहं जगदीशा । अहं जगपति अहं जगईशा ॥ अहं गोविंद अहं गोपालं ।" पंक्तियों से सोऽहं की भावना स्पष्ट रूप में प्रकट होती है ।

स्फुट काव्य में एक स्थान पर कवि ने सोऽहं को अद्वितीय 'जाप' माना है । कवि के शब्दों में हीः—

प्रीति सी न पाती कोऊ प्रेम से न फूल और ।
चित्त सों न चन्दन सनेह सों न सेहरा ॥
हृदय सों न आसन सहज सों न सिंहासन ।
भाव सी न सेज और सून्य सों न गेहरा ॥

सील सों न स्नान अरु ध्यान सों न धूप और ।
ज्ञान सों न दीपक अज्ञान तम केहरा ।
मन सी न माला कोऊ सोहं सो न जाप और ।
आतम सों देव नाहिं देह सो न देहरा ॥

(स० बा० स० २, पृ० १२५)

रेखांकित पंक्ति में कवि ने सोऽहं को जप ध्यान और साधना का श्रेष्ठ साधन माना है ।

संत कबीर का युग

आविर्भाव काल

कबीर का आविर्भाव काल एक संदिग्ध विषय है। इस सम्बन्ध में स्पष्ट अन्तर्साक्ष्य प्रमाण नहीं उपलब्ध है। कबीर के पदों में केवल दो स्थानों पर तत्कालीन शासक सिकन्दर लोदी के अत्याचार का उल्लेख मिलता है। प्रथम संकेत रागु गौंड के चतुर्थ पद में हुआ है और द्वितीय रागु भैरव[1] के अट्ठारहवें

भुजा बांधि मिलाकर डारिओ। मन कठोरू अजहू न पतीना॥
हसती क्रोपि मूंड महि मारिओ॥ कहि कबीर हमरा गोविन्दु।
हसती भागि कै चीसा मारै। चउथे पद महि जनका जिन्दु॥४॥
इआ मूरति कै हउ वलिहारै॥ (राग गौंड ४)
आहि मेरे ठाकुर तुमरो जोरु। तथा:—
काजी बकिवो हसती तोरु॥१॥ गंग गुसाइनि गहरि गंभीर।
रे महावत तुमु डारउ काटि। जंजीर बाधि करि खरे कबीर॥
इसहि तुरावहु घालहु साटि॥ मनु न डिगै तनु काहे कउ डराइ।
हसती न तोरै धरै धिआनु। चरन कमलचित रहियो समाइ॥१॥
बाकै रिदै वसै भगवानु॥२॥ गंगा की लहरि मेरी टुटी जंजीर।
किआ अपराधु संत है कीन्हा। मृगछाला पर बैठे कबीर॥
बांधि पोटि कुंचर कउ दीन्हा कहि कबीर कोउ संग न साथ।
कुंचरु पोट लै लै नमसकारै। जल थल राखन है रघुनाथ॥
बूझी नहीं काजी अंधियारै॥३॥ (रागु भैरउ १८)
तीनि वार पातीआ भरि लीना। सन्त कबीर

—डाक्टर रामकुमार वर्मा

पद में। इन पदों में काजी द्वारा कबीर पर हाथी चलवाने तथा जंजीर में बांध कर गंगा में डुबाने के प्रयत्न का वर्णन है। परन्तु इन दोनों पदों में सिकन्दर लोदी के नाम का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता है। परची आदि ग्रंथों में सिकन्दर लोदी ने जो जो अत्याचार किये थे, उनमें उपर्युक्त दोनों घटनाएं सम्मिलित हैं। अतः यहां पर इन दोनों घटनाओं को सिकन्दर लोदी के अत्याचारों के अन्तर्गत मानने में अनुमान किया जा सकता है। "आहि मेरे ठाकुर तुमरा जोरू" और "गंगा की लहरि मेरी टुटी जंजीर" जैसी पंक्तियों से ज्ञात होता है कि कबीर ने अपने अनुभवों का वर्णन स्वयं ही किया है[1]। "यदि उपर्युक्त दोनों पदों (रागु गौंड ४ तथा भैरउ, १८) को प्रामाणिक मान लिया जाय तो कबीर को सिकन्दर लोदी का समकालीन माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त कोई भी अन्तर्साक्ष्य नहीं उपलब्ध होता है।

कबीर को सिकन्दर लोदी का समकालीन सिद्ध करने वाले कुछ बहिर्साक्ष्य प्रमाण भी हैं। रेवरेन्ड के[2], बील. फर्कहर, मेकालिफ, वेसकट, स्मिथ, भण्डारकर, ईश्वरी प्रसाद[3], तथा रामकुमार वर्मा[4] आदि विद्वान् भी इस मत से सहमत हैं कि कबीर और सिकन्दर लोदी समकालीन हैं। इनके अतिरिक्त प्रियादास जी[5] ने भी कबीर और सिकन्दर को समकालीन माना

(१) हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डा० रामकुमार-वर्मा, पृ० ३३४।
(२) Kabir and His Followers: Rev. Keay, Page I:
(३) हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृ० ३३५।
(४) सन्त कबीर पृ० ३८।
(५) भक्तमाल की टीका, प्रियादास।

है। अतः कबीरदास का युग पन्द्रहवीं शताब्दी मानना असंगत न होगा। इस समय लोदी वंश के शासक सिकन्दर का राज्य था। लोदी वंश से पूर्व भारतवर्ष पर गुलाम, बलबन, खिलजी, तुग़लक, तथा सैयद वंश राज्य कर चुके थे। कबीरदास से पूर्व प्रायः तीन सौ वर्षों तक मुसलमान इस देश पर राज्य कर चुके थे। राजनीतिक क्षेत्रों में मुसलमानों का ही प्रभुत्व रहा। इन तीन सौ वर्ष के मुसलमानी शासन काल में भारतवर्ष की धार्मिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक दशा का ह्रास हो गया था। मुसलमानों की विकास-शक्ति और धर्म ने देश का दृष्टिकोण ही बदला दिया। मध्यदेश में भी मुसलमानी तलवारों का पानी अनेक हिन्दू राज्यों के सिंहासन डुबो चुका था। हिन्दू राजाओं के पास न बल था, न साहस और न ऐक्य।

सिकन्दर की शक्ति, अधिकार और महत्वाकांक्षा निःसीम थी। उसके लिए कोई नियम नहीं था। देश का राज्य उसकी इच्छा और मन पर निर्भर था। देश की जनता और विशेष रूप से हिन्दू उसकी कृपा-कोर के आकांक्षी बने रहे। जनता के अधिकारों का कोई अस्तित्व नहीं था। उसके जीवन की सब से बड़ी सार्थकता थी शासक की आज्ञा पालन करना। सिकन्दर की राजनीति पर भी धार्मिक आदर्शों का प्रभाव था। जहां भी हिन्दुओं का कोई विद्रोह होता था वहां हिन्दुओं को जो दण्ड मिलता था वह तो था ही साथ ही उस क्षेत्र के सभी मंदिर नष्ट करा दिए जाते थे। बात यहीं नहीं समाप्त हो जाती थी वरन् मंदिरों के स्थान पर मसजिदों का निर्माण करा दिया जाता था।

संक्षेप में कबीर के युग की राजनीतिक परिस्थिति, अस्थिरता, विश्वासघात, धार्मिक संकीर्णता तथा अमानुषिक अत्याचारों की कथा है। राजनीतिक विद्रोह, अशांति और प्रतिहिंसा की छाप सर्वत्र अंकित है। कबीर एक सहृदय व्यक्ति थे। इनके राजनीतिक प्रपंचों ने कबीर की संसार विषयक क्षणभंगुरता की भावना को और भी दृढ़ कर दिया। उन्होंने तत्कालीन शूर वीरों को सम्बोधित करके कहा कि तीर तोप से लड़ना शौर्य नहीं, शूर धर्म का निर्वाह वह व्यक्ति करता है जो माया के बंधनों से मुक्त होकर आध्यात्मिक पथ पर अग्रसर हो। तत्कालीन जनता की भौतिकता भी कबीर को पसन्द नहीं आई। वे तत्वदर्शी थे। जानते थे कि जो कुछ भी भौतिक है वह क्षणिक है और इसीलिए उन्होंने भौतिकता और माया से दूर रहने के लिए बार बार सचेत किया। कबीर ने अपने युग में जनता की स्वार्थपरता और धनलिप्सा की भी बड़ी निन्दा की है। इन्होंने उदार वृत्ति और सन्तोष धारण करने की आवश्यकता पर भी ज़ोर दिया।

धार्मिक परिस्थिति

कबीर से पूर्व भारतवर्ष की राजनीतिक दशा पर ऊपर विचार हो चुका है। विगत पृष्ठों को देखने से प्रकट हो जाता है कि १२०० से १५०० ई० तक देश की दशा कितनी विषम बनी रही। हिन्दू समाज, हिन्दू संस्कृति पर निरन्तर आक्रमण हो रहे थे। हिन्दू धर्म को नष्ट कर देने के लिए साम, दाम, दंड और भेद आदि सभी उपायों से प्रयत्न किया गया। हिन्दुओं की इस गम्भीर, विषम शोचनीय और नित्य ही परिवर्तनशील दशा में हिन्दुओं का धर्म संकट में पड़ चुका था। उनके राम जनता के हृदय और मस्तिष्क से विलग हो

चले थे। परिस्थिति इस बात की द्योतक थी कि मूर्ति-उपासक कितने निर्बल, अशक्त और संकट में थे और दूसरी ओर मूर्ति-भंजक कितने बलवान और कितने ऐश्वर्यवान हैं। मूर्तिभंजकों को सुख और ऐश्वर्य के पालने में झूलते हुए देख कर हिन्दुओं का मूर्तिपूजा से भी विश्वास उठ रहा था। वे उसकी निःसारता स्पष्टरूपेण समझ चुके थे। फलतः महान् संघर्ष और क्रांति के इस युग में एक ऐसे धार्मिक आन्दोलन की आवश्यकता थी जो देश के निवासियों को अंधकार में प्रकाश दिखा सके। निराशा में आशा का संचार कर सके। इस आवश्यकता की पूर्ति वैष्णव आन्दोलन ने की। इस आन्दोलन में परब्रह्म के लोक-रक्षक, लोक-पालक स्वरूप की विष्णु के रूप में प्रतिष्ठा करके, उनकी सरल भक्ति का मार्ग निराश हृदयों को प्रदर्शित किया गया। प्रस्तुत वैष्णव आन्दोलन की प्रेरणा और प्रयत्न से निराश हिन्दुओं में एक बार पुनः धार्मिक जाग्रति उत्पन्न हुई। समय समय पर इस आंदोलन के भी उपास्य देवों के स्वरूप में परिवर्तन होता रहा। फिर भी इसके मूल में एक भावना बराबर रही और वह भावना थी परब्रह्म के सर्वव्यापी एवं अन्तर्यामी स्वरूप की।

रामानन्द ने लोक-रक्षक 'राम' की प्रतिष्ठा की। रामानन्द की इस 'राम' भक्ति के महान् स्रोत से दो धारायें फूट निकलीं। प्रथम धारा थी 'राम' के सगुण रूप की, इस धारा में नाभादास, तुलसीदास आदि प्रतिभावान व्यक्ति हुए और द्वितीय धारा में 'राम' के निर्गुण रूप की उपासना हुई जिसके प्रचारक नामदेव, कबीर आदि संत हुए। इन सन्तों ने अपने सम्प्रदाय में योग की क्रियाओं को भी स्थान दिया पर सामान्य जनता ने इनके सरल उपदेशों को ही ग्रहण किया। इन सन्तों

ने उपासना के लिए निर्गण 'ब्रह्म' का आश्रय ग्रहण किया और इस भावना ने जातीय, सांस्कृतिक तथा धार्मिक मतभेद के लिए अवशेष अवसर भी समाप्त कर दिये।

हिन्दू धर्म में वाह्य प्रभावों के अतिरिक्त दोष भी व्याप्त हो गये थे। धर्म के पवित्र रूप को वाह्याडम्बरों ने आच्छादित कर लिया। सद्विश्वासों का स्थान अंधविश्वासों ने ग्रहण कर लिया। अहिंसा, त्याग और सत्य का स्थान बलिदानों के रूप में हिंसा तथा ढोंग ने ले लिया। संक्षेप में कबीर के युग तक हिन्दू धर्म अनेक दोषों से पूर्ण था। साधना के स्थान पर वाह्याचार की प्रतिष्ठा हो रही थी। कबीर तथा अन्य कवियों ने इन दोषों की कड़ी आलोचना की है। उन्होंने अपने व्यंग बाणों के द्वारा तत्कालीन जनता की मनोवृत्ति और धर्म के अंधकारपूर्ण पक्ष का चित्रण किया है।

सामाजिक परिस्थिति

समाज में वाह्याडम्बर बढ़ रहे थे। जनता की अंध-विश्वासों पर अत्यधिक श्रद्धा थी। भूत-प्रेतों पर विश्वास की भावना का प्रसार जनता में हो रहा था। संक्षेप में कबीर के समय में भारतीय समाज अनेक प्रकार के दोषों से युक्त था। कबीर ने जिस प्रकार धार्मिक विशृंखलाओं को दूर करने का प्रयत्न किया उसी प्रकार सामाजिक रूढ़ियों और दोषों को निकाल फेंकने के लिए प्रयत्न किया। समाज में व्याप्त हिन्दू, मुसलमानों की भेद भावना के विरोध में कबीर ने बार बार समता और एकता का उपदेश दिया। कबीर ने तत्कालीन जनता को समझाया कि हिन्दू मुसलमान एक ही कर्ता की दो कृतियां हैं, उनमें भेद नहीं है। इसी प्रकार 'राम' 'रहीम' एक ही ईश्वर के दो नाम हैं। केवल नामों का भेद अनादि शक्ति को द्वैत नहीं सिद्ध कर सकता है।

इस प्रयत्न से कबीर ने दोनों धर्मावलम्बियों के हृदयस्थ भेद-भाव की संकीर्णता दूर करने का प्रयत्न किया। तत्कालीन जनता में व्याप्त असंतोष तथा प्रतिहिंसा की प्रवृत्ति के विरुद्ध भी कबीर ने सन्तोष और क्षमा का उपदेश दिया। उन्होंने क्षमावान् को परब्रह्म का ही रूप बताया। तत्कालीन यवनों की हिंसा-प्रधान प्रवृत्ति का विरोध करते हुये कबीर ने जनता को अहिंसा और दया का उपदेश दिया। जब सभी एक ही 'सांई' की सन्तान हैं तो किस पर दया की जाय और किस पर निर्दयता। विजेता वर्ग के अत्याचारों से उत्पीड़ित हिन्दू जनता को भी कबीर ने धैर्य रखने का उपदेश दिया। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा "धीरे धीरे रे मना धीरे सब कछु होय।" इसी प्रकार कबीर ने अपने समकालीन समाज को उदारता की भी उपयोगिता बताई। कबीर ने जनता के लोभ, क्रोध, मोह, कपट, तृष्णा आदि विषयों पर भी अपने विचार प्रकट किये हैं। वास्तव में कबीर समाज को परिष्कृति और दोषरहित रूप में देखना चाहते थे।

नारी

कबीर से पूर्व और कबीर के युग में नारी का जो चित्र हमें साहित्य, धर्म तथा इतिहास में मिलता है वह अत्यन्त विवशता का चित्र है। तत्कालीन जनता की भोग-लिप्सा देख कर कबीरदास ने बारम्बार भोग-विलास से दूर रहने का उपदेश दिया। उन्होंने कहा कि पंडित और मूर्ख दोनों 'काम' में लिप्त[1] हैं। 'काम' में लिप्त मनुष्य कभी भी 'हरि नाम' की साधना नहीं कर सकता जिस प्रकार सूर्य और अंधकार एक स्थान पर नहीं एकत्रित हो

१ काम क्रोध मद लोभ की जब लग घट में खान।
कहा मुर्ख कह पंडितां दोनों एक समान॥

सकते [१] हैं। इस प्रकार मानव की भोग-लिप्सा और कामुकता की बड़ी आलोचना की। अपनी पतिव्रता स्त्री का परित्याग कर पर-स्त्री से प्रेम करने वालों को सम्बोधित कर कबीर कहते हैं कि "दूसरे की स्त्री, चाहे वह सोने ही की क्यों न हो, उस से दूर रहना चाहिए, नहीं तो रावण के समान विनाश अवश्य-म्भावी है।[२] इसी प्रकार बड़े प्रभावशाली शब्दों में कबीर ने इस प्रवृत्ति की आलोचना की। कबीर के युग में नारी भोग-विलास की वस्तु बन गई थी। इसलिए उन्होंने नारी के भोगमय स्वरूप की बड़ी निन्दा की है। आध्यात्मिक पथ से भ्रष्ट करने के कारण कबीर ने स्त्री को सर्पिणी के समान भयंकर[३] व्याघ्र के सनान घातक[४] तथा भक्ति एवं मुक्ति से पतित करने वाली [५] कहा है। स्थान स्थान पर कबीर ने नारी को माया आदि शब्दों से भी सम्बोधित किया है। परन्तु साथ ही कबीर ने नारी के कल्याणकारी रूप का समर्थन भी किया

---

१ जहां काम तहं नाम नहि जहां नाम नहि काम।
दोनों कबहूं ना मिलै रवि रजनी एक ठाम॥ कबीर ब० पृ० ४८

२ परनारी पैनी छुरी बिरला बाचै कोय।
ना वहि पेट संचारिये सर्व सोन की होय॥
रावन के दस सिर गए पर नारी के संग—कबीर ग्रं०, पृ० ५५-५६

३ कामिनी सुन्दर सर्पिणी जो छेड़ै तेहि खाय।
जो गुरुचरन न राचिया तिनके निकट न जाय॥

४ नैनों काजर पाइ कै गाढ़ै बाधे केस।
हाथों मेंहदी लाइ कै बाघिनि खाया देस॥

५ नारि नसावै तीन गुन जो नर पासे होय।
भक्ति मुक्ति निज ध्यान में पैठि न सक्कै कोय॥

है। कबीर ने सती स्त्री की प्रशंसा की [१] है कारण कि उसका हृदय और मन पवित्र रहता है। यह पति के साथ अपनी जीवन लीला समाप्त कर देती है। इसी प्रकार कबीर ने पतिव्रता नारी का भी बड़ा समर्थन किया है। कबीर के लिए मैली कुचैली पतिव्रता भी बन्दनीय है।[२] पतिव्रता नारी को कबीर ने शूर और दानीके समान उच्च और अभिनन्दनीय माना है।[३] संक्षेप में कबीर ने नारी के उस स्वरूप की निन्दा की जो मानव को आध्यात्मिक पथ पर अग्रसर होने में रोकता है। यदि वह इस दोष से रहित है तो वह सर्वथा वन्दनीय है।

आर्थिक परिस्थिति

मुसलमानों के आक्रमण, अकाल, अनावृष्टि, लुटेरों तथा विजेता वर्ग के शोषण ने कबीर के समय तक देश को नितान्त कंगाल बना दिया था। इसका प्रभाव मध्यवर्ग, निम्नवर्ग और किसान तथा मज़दूरों पर विशेष रूप से पड़ा। आर्थिक विनाश और अन्नाभाव के कारण जनता के लिए जीवन का प्रश्न अत्यन्त विषम बन गया। जनता के इन वर्गों के लिए ईश्वर के अतिरिक्त और किसी का सहारा नहीं था। इसलिए कबीर ने तत्कालीन जनता को सन्तोष धारण करने का उपदेश दिया। कारण कि, सन्तोष गजधन, वाजिधन और रत्नधन

---

(१) सती न पीसै पीसना जो पीसै सो रांड़।
साधू भीख न मांगही जो मांगै सो भांड़॥

(२) पतिबरता मैली भली काली कुचित कुरूप।
पतिबरता के रूप पर वारौं कोटि सरूप॥

(३) सूरा के तो सिर नहीं दाता के धन नाहिं।
पतिबरता के तन नहीं, सुरति बसै पिउ मांहि॥

आदि सभी धनों से श्रेष्ठ हैं[१]। कबीर ने मानव-सुलभ तृष्णा की भी आलोचना की, क्योंकि तृष्णा ही मनुष्य का वास्तविक काल है[२]। तृष्णावान् मानव कहीं भी शान्ति नहीं प्राप्त कर सकता है। शोषण के विरुद्ध भी कबीर ने जनता को उपदेश दिया[३]। कबीर ने स्थान स्थान पर गरीबी की सराहना की है। उन्होंने गरीब को "दुतिया के चन्द्र के समान" वन्दनीय बताया है[४]। कारण कि गरीब स्वयं सभी के उत्पीड़न को सहन करता है और प्रतिकार में किसी को कष्ट नहीं पहुंचाता है। वह स्वयं अपने को ठगाने में सुख का अनुभव करता है। गरीबी सबसे अच्छी है कारण कि लघुता से ही मनुष्य महत्ता की ओर अग्रसर होता है। कबीर ने उस धन को अभिशाप माना है जिससे ईश्वर के भजन में बाधा पड़े। इस प्रकार समय की आवश्यकतानुसार कबीर ने सन्तोष और दीनता का महत्व प्रदर्शित करके दीन और भुक्तभोगी जनता को अपनी स्थिति में ही स्थिर रहने और ईश्वर प्रेम में रत रहने का उपदेश दिया।

साहित्य में धार्मिक स्थिति के चित्रण की परम्परा सरहपा से आरम्भ होती है। सरहपा के समय में पाखंड और बाह्या-

---

(१) गोधन गजधन बाजिधन और रतन धन खान।
जब आवै संतोष धन सब धन धूरि समान॥

(२) की त्रिस्ना है डाकिनी की जीवन का काल।
और और निस दिन चहै जीवन करै बिहाल॥

(३) कबिरा आप ठगाइये और न ठगिये कोय।
आप ठगे सुख ऊपजै और ठगे दुख होय॥

(४) सब ते लघुताई भली लघुता ते सब होय।
जस दुतिया को चन्द्रमा सीस नवै सब कोय॥

डम्बरों की अधिकता थी। उन्होंने ब्राह्मण, वेद, साहित्य दण्डी, यज्ञ, यंत्र-मंत्र आदि की आलोचना की है

जिससे ज्ञात होता है कि आठवीं शताब्दी में ही धर्म के क्षेत्र में बाह्याडम्बर और पाखण्ड समाविष्ट हो गए थे। सरहपा के पश्चात् दसवीं शताब्दी के कवियों में से तिलोपा काव्य में तत्कालीन धार्मिक स्थिति का चित्रण उपलब्ध होता है। तिलोपा के समय में धर्म के मूल सिद्धांतों को त्यागकर जनता तीर्थ, तप, बहुदेवोपासना में लग रहे थे तथा साधक भोगी हो रहे थे। योगीन्दु (१००० ई०) के समय तक ये दोष कुछ और भी बढ़ गए। इस समय की जनता विभिन्न 'पंथों' और 'सम्प्रदायों' में भटक रही थी। शिक्षित समुदाय मानवता के धर्म को विसार कर 'पोथी पत्र' को ही धर्म समझ बैठा था। रामसिंह, योगीन्दु के समकालीन थे। इन्होंने भी पाखंड के उन बहुत से चित्रों की अभिव्यक्ति अपने काव्य में की है जो तत्कालीन धर्म और समाज में व्याप्त थे। इन्होंने उन 'मुँडियों' का वर्णन किया है जो मुक्ति की आशा में सिर मुँड़ाए हुए घूम घूमकर जगत् को धोखा देने के साथ ही अपनी आत्मा को भी धोखा देते फिरते थे। कवि रामसिंह ने इन व्याप्त दोषों को बहुत निकट से देखा था। इन उपर्युक्त कवियों के समान ही नाथ सम्प्रदाय के प्रसिद्ध कवि गोरखनाथ के काव्य में भी तत्कालीन धर्म में व्याप्त दोषों तथा पाखण्डों का अच्छा चित्रण मिलता है। गोरखनाथ के समय में ब्राह्मण बहुपठित तो थे पर उन्हें सार-ज्ञान नहीं था, योगी माया में लिप्त तथा धूर्त, साधक निद्रा, मैथुन और माया में लिप्त थे, मंत्र देने वाले गुरू अहंकारी थे। समय के साथ धर्म में व्याप्त दोषों में भी वृद्धि होती गई। कबीर के समय तक जनता नितांत पथभ्रष्ट हो चुकी थी। बड़े बड़े योगी

माया में लिप्त थे। योगी, पंडित, सन्यासी, मौलाना, काजी सब 'मदमाते' हो रहे थे। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही सत् धर्म से भ्रष्ट होकर भटक रहे थे। पीर औलिया हिंसा में प्रवृत्त थे। हिन्दू मुसलमान दोनों ही ब्रह्म के विषय को लेकर परस्पर एक दूसरे के शत्रु बने हुए थे। हिन्दू लोग पत्थरों की पूजा में ही कर्तव्य-पूर्ति समझते थे। साधु लोग बाह्याडम्बरों में प्रवृत्त होकर धन एकत्रित करते फिरते थे। सोना चांदी के आभूषण पहनते थे। घोड़ा घोड़ियों पर सवारी करके विचरते थे। इस प्रकार साधु-समाज माया का दास हो रहा था[1] साधुओं की भांति मुल्ला भी पथभ्रष्ट हो चुके थे। पीर कर्तव्य-च्युत हो गए थे। उनमें विवेक-बुद्धि नष्ट हो गई थी। वे अहिंसा में प्रवृत्त थे। इन पीरों और मुल्लाओं का प्रभाव तत्कालीन मुसलमान जनता पर गम्भीर पड़ा। अपने अपने धार्मिक नेताओं की भांति हिन्दू और मुसलमान सभी आचरण कर रहे थे। हिन्दुओं में महन्तों के आदर्शों का अनुकरण हो रहा था और मुसलमानों में इन पीरों और मुल्लाओं का अंधानु-करण। धर्म के नाम पर अधर्म, आचार के नाम पर अनाचार कबीर जैसे उदार दृष्टिकोण वाले व्यक्ति के लिए असह्य था। उन्होंने दोनों को खूब फटकारा।

धर्म में व्याप्त विकारों तथा वाह्याडम्बरों की निंदा करके कबीर पथभ्रष्ट तथा लक्ष्यच्युत जनता को धर्म के राजमार्ग अथवा उचित मार्ग पर लाना चाहते थे। धर्म और साधना में

---

(१) साधु भया ता क्या भया माला पहिरी चारि।
बाहर भेष बनाइया भीतर भरी भंगारि॥
भक्त विरक्त लोभ मन ठाना, सोना पहिरि लजावै बानां।
घेरी घोरा कीन्ह बटोरा, गांव पाय जस चले करोरा॥

कबीर को ऐंचातानी पसन्द नहीं थी। साधना तो अत्यन्त प्रिय विषय है। साधना के क्षेत्र में दैनिक औचित्य के मध्यस्थ कोई भी विरोधी भावनायें नहीं हैं। कबीर इस सत्य से परिचित थे। इसी कारण कबीर ने मर्म और साधना के सहज पथ को ग्रहण करने के लिए अपनी समकालीन जनता को उपदेश दिया। कबीर ने जनता को बताया कि समस्त दुरूहताओं और दांवपेंचों की क्या निःसारता है और सहज पथ ही सत्य पथ है जिसके द्वारा कोई भी व्यक्ति मुक्ति प्राप्त कर सकता है[1]। सहज पथ सबके लिए खुला है। उसमें जाति-पांति वर्ग-कुल आदि का प्रतिबन्ध नहीं है। सम्प्रदाय और मत मतांतरों की भांति इसमें बाह्याडम्बर की आवश्यकता नहीं है।

मर्म के अन्तर्गत बाह्याडम्बरों का कोई अस्तित्व नहीं है, फिर भी हिन्दू और इस्लाम दोनों ही धर्मों में यह दोष समान रूप से वर्तमान है। कबीर ने देखा कि धर्म के वास्तविक रूप को बाह्याडम्बरों ने आच्छादित कर रखा है। अतः उन्होंने मतवाद, शास्त्र, कतेब, तीर्थ, व्रत, नमाज आदि की व्यर्थता जनता के समक्ष बारम्बार रखी। सब से पहले कबीर ने हिन्दू और मुसलमानों के धार्मिक ग्रन्थों की आलोचना की। उन्होंने बताया कि ये ग्रन्थ सभी को भ्रम में डालने के लिए रचे गए

---

(१) सहज सहज सब को कहै सहज न चीन्है कोइ।
जिन्ह सहजै विषया तजी सहज कहीजै सोइ॥
सहज सहज सबको कहै सहज न चीन्है कोइ।
पांचू राखै परसतो सहज कहीजै सोइ॥
सहजै सहजै सब गए सुत बित कांमणि काम।
एक मेक ह्वै मिलिरह्या दास कबीरा राम॥

हैं[१]। कबीर ने मूर्ति-पूजा के विरोधमें भी बहुत कुछ लिखा है[२]। कबीर तो मन्दिर की नींव को ही अस्थिर मानते हैं[३]। इसी प्रकार उन्होंने मुसलमानों को 'बांग' और मस्जिद की व्यर्थता बताई[४]। हिन्दुओं की एकादशी और मुसलमानों के तीस रोजा की भी कबीर ने आलोचना की[५]।

हिन्दू मुसलमानों की 'राम' 'रहीम' सम्बन्धी भेद-भावना को मिटाने के लिए कबीर ने ब्रह्म के अद्वैत स्वरूप का उपदेश दिया। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा "साहेब मेरा एक है दूजा

---

(१) हिन्दू मुसलमान दो दीन सरहद बने वेद कतेब परपंच साजी।

—ज्ञानगुदड़ी पृ० १६।

वेद किताब दोय फंद सवारा। ते फंदे पर आप बिचारा

—बीजक पृ० २६६

चार वेद ब्रह्मा निज ठाना। मुक्ति का मर्म उनहु नहि जाना।
हबीबी और नबी के कामा। जितने अमल सो सबै हरामा॥

—बीजक १०४, १२४

(२) पाहन पूजे हरि मिलै तो मैं पूजूं पहार।
ताते यह चाकी भली पीस खाय संसार॥

(३) नींव बिहूणा देहुरा देह बिहूणा देव।
कबीर तहां बिलंबियो करे अलष की सेव॥

(४) कांकर पाथर जोरि के मसजिद लई चुनाय।
ता चढ़ि मुल्ला बांग दे क्या बहिरा हुआ खोदाय॥

(५) हिन्दु एकादसि चौबिस रोजा मुसलिम तीस बनाये।
ग्यारह मास कहो किन टारो ये केहि माहि समाये॥

—बीजक पृ० ३८८

कहा न जाय[1] ।" इतना ही नहीं 'साहब' को द्वैत बताने वाले को कबीर "दूजा कुलको होय" कहने तक का साहस रखते[2] हैं। कबीर ने बताया कि हिन्दू और मुसलमानों की एक ही राह है[3]। दोनों ही एक ही कलाकार की कृतियां हैं। उनमें दृष्टिगत भेद मानवकृत है।

कबीर ने भेष बना कर घूमने की प्रकृति की भी तीव्र आलोचना की है। माला, तिलक, छाप, गेरुआ वस्त्रों आदि की निःसारता पर उन्होंने बार बार ज़ोर दिया है[4]।

कबीर के युग में हिन्दू और मुसलमान दोनों ही के धर्म में 'हिंसा' वृत्ति समाविष्ट हो गई थी। कबीर ने काजी, सैय्यद, औलिया और पीर आदि को डाटते हुए पूछा कि "बकरी मुर्गी का तुम किसकी आज्ञा से हनन करते हो। दिन भर तो रोजा

---

(१) कबीर बचनावली, पृ० १

(२) "जो साहब दूजा कहै दुजा कुल को होय।" २।६

(३) हिन्दू तुरूक की एक राह है सतगुरु इहै बताई।
कहहि कबीर सुनहु हो सन्तों राम न कहेउ खुदाई॥
—बीजक शब्द १०

(४) कर सेती माला जपै, हिरदै बहै डङ्डूल।
पग तौ पाला मैं गिल्या भाजण लागी सूल॥
कर पकरै अंगुरी गिनै मन धावै चहुं ओर।
जाहिं फिरायां हरि मिलै सो भया काठ की ठौर॥
मूंड मुडावत दिन गए अजहूं न मिलिया राम।
राम नाम कहु क्या करै जे मन के औरै काम॥
क० ग्र० पृ० ४५-४६

रहते हो और रात में गाय खाते हो[१]। भला तुम्हारा ख़ुदा किस प्रकार से इस आचरण पर प्रसन्न होगा।" इसी प्रकार उन्होंने हिन्दू योगियों से पूछा कि "कब नारद बन्दूक चलाया।"

इस प्रकार कबीर ने तत्कालीन हिन्दू तथा मुसलमानों के धर्म में व्याप्त दोषों तथा बाह्याडम्बरों को दूर करने का प्रयत्न किया। उन्होंने दोनों विरोधी वर्गों को एकता और प्रेम का मार्ग प्रदर्शित किया और पारस्परिक विरोधी भावनाओं को शांत करने का प्रयत्न किया।

रामानन्द के पश्चात् सन्त कवियों ने अपने उपदेशों का माध्यम हिन्दी भाषा बनाया। वे इस बात को समझ गये थे कि यदि अधिक से अधिक जनता में स्वमत का प्रचार करना है, तो हिन्दी का ही आश्रय ग्रहण करना पड़ेगा। फलतः उन्होंने हिन्दी में ही अपने विचारों को प्रकट किया। सन्तों ने विद्वत्समाज की स्तुति निन्दा, अथवा योग्यता-प्रदर्शन की आवश्यकता न समझ कर जनता की भाषा में ही उपदेश दिया। रामानन्द ने संस्कृत के विद्वान होते हुए भी जन-हितार्थ हिन्दी में उपदेश दिये। परन्तु बाद के कवियों ने संस्कृत के विपक्ष और भाषा की सराहना भी की जिनमें से कबीर विशेष उल्लेखनीय हैं। कबीर ने स्पष्ट शब्दों में संस्कृत को

भाषा

---

(२) बकरी मुरगी किन फुरमाया। किसके हुकुम तुम छुरी चलाया।
दरद न जानै पीर कहावै। बैता पढ़ि पढ़ि जग समुझावै॥
क० व० १६८

दिन भर रोजा धरत हो राति हतत हो गाय।
यह तो खून वह बंदगी क्यों कर खुसी खोदाय॥
क० व० पृ० १६६

'कूपजल' कहा और भाषा की बहते हुए नीर से तुलना की। इससे कबीर के भाषा विषयक आदर्श प्रकट होते हैं।

देश की संघर्षमयी परिस्थिति का कबीर पर प्रभाव पड़ा। मानव की निम्न तथा हेय प्रवृत्तियों के विरुद्ध कबीर दास ने अपने शांत एवं प्रभावशाली स्वर में क्षमा, दया, विश्वबन्धुत्व, एकता तथा समता का संदेश दिया और अपने युग को सही मार्ग पर अग्रसर करने का प्रयत्न किया।

उपसंहार

उस युग की हलचल, अशांति, आडम्बर और बिडम्बना का मापदण्ड कबीर का स्वर और उनका 'सहज' संदेश है।

संत कबीर—व्यक्तित्व का एक अध्ययन

किसी भी साहित्याकार का व्यक्तित्व उसकी रचना में प्रतिबिम्बित होता है। लेखक के व्यक्तित्व से उसके साहित्य का बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। कोई भी मनुष्य किसी रचना से उसके लेखक के व्यक्तित्व का अनुमान लगा सकता है। कबीर (१५वीं शताब्दी) का साहित्य उनके व्यक्तित्व का सब से अधिक परिचायक है। कबीर के साहित्य को देखने से ज्ञात होता है कि वे सत्य (दोनों, व्यवहार और साधना) प्रिय थे। उनमें चरित्रबल था जिसके कारण स्पष्टोक्तियां उनकी वानियों में लहरें ले रहीं हैं। वे मान और अपमान के स्तर से ऊपर उठ चुके थे। उन्हें द्रोह, विद्रोह, अशान्ति, वैमनस्य, प्रतिहिंसा की भावना से घृणा थी। वे शान्ति प्रिय थे। अहिंसा और सरलता के वे समर्थक थे। करनी और कथनी में वे भेद नहीं मानते थे। लौकिक जीवन से ऊपर उठने की उनमें साध थी। वे प्रेमी, भक्त, साधक योगी और विश्वासी थे। दुविधा से वे घृणा करते थे। भेष और वस्त्राचार तथा सत्य के नाम पर अनाचार देख कर वे जल उठते थे। समदृष्टि और सहज को जीवन में वे कार्यान्वित करना चाहते थे। उदारता, विश्वबन्धुत्व, दीनता, धैर्य, संतोष, सहनशीलता और क्षमा उनकी चरित्रगत विशेषतायें थीं। सत्य-प्रियता के कारण उन्हें जीवन में विरोधों के अनेक तूफानों का सामना करना पड़ा। कबीर स्वतन्त्र विचार के व्यक्ति थे। उनमें प्रतिभा थी, मौलिकता थी। उनकी वाणी में बल और हृदय में साहस था। अप्रिय सत्य कहने में भी

उन्हें कोई संकोच नहीं था। मुरौव्वत और रियायत की भावना उनमें स्थान नहीं पा सकी थी।

लेखक के व्यक्तित्व के अध्ययन का दूसरा साधन है उसके समकालीन और परिवर्ती लेखकों का उसके विषय में कथन। कबीर संत मत के प्रवर्तक और एक विशेष परम्परा के संस्थापक थे। साहित्य और धर्म के क्षेत्र में एक नवीन क्रान्ति के जनक थे। आलोचना की एक नवीन शैली के जन्मदाता थे। १५वीं शताब्दि के सर्वश्रेष्ठ कवि और समाज सुधारक थे। समकालीन शासक उनसे अत्यधिक प्रभावित था। (यदि किंवदंतियों में जरा भी विश्वास कर लिया जाय।) वे एक नवीन समाज के निर्माता थे। निश्चय ही उन्होंने अपने युग की जनता को प्रभावित किया होगा और निश्चय ही उनके सिद्धान्तों की पुण्य गंगा में अवगाहन कर उनके पश्चात् नानक, दादू, मलूक, जगजीवन, शिवनारायण, दरियाद्वे, मीरा, सहजो, दयाबाई, धनीदास, गरीबदास, केशवदास, तुलसी (साहब), चरनदास, सुन्दरदास आदि ने भारतीय जनता में समय-समय पर प्रकाश फैलाया। आज इस युग का महापुरुष गांधी भी उनके सिद्धान्तों से अनुप्राणित प्रतीत होता है। कबीर के विषय में लिखित इन सन्तों की वानियों से कबीर के व्यक्तित्व का अनुमान बड़ी सरलता से लग सकता है। अतिशयोक्तियों को छान कर निकाले हुए तथ्यों से कबीर का व्यक्तित्व प्रकाश में लाया जा सकता है।

कबीर के पश्चात् धर्म और समाज के विषय में अभिरुचि रखने वाले सभी कवियों और इतिहासकारों ने कबीर की प्रशंसा की है—चाहे वे मुसलमान हों या हिन्दू। दोनों जातियों में उनका आदर था, सम्मान था। उनकी वाणी में प्रभावित

करने की शक्ति थी। उनकी वाणी ने समय, वर्ण, वर्ग, जाति और समाज के सभी स्तरों को लांघ कर एक रूप से जनता को प्रभावित किया।

साम्प्रदायिक कवियों का काव्य अतिशयोक्ति एवं अतिरंजना से पूर्ण होता है। फिर भी उन अतिरंजनों के मूल में तथ्य बीज-रूप में वर्तमान अवश्य रहता है, इसमें कोई सन्देह नहीं। धरमदास (सं० १४७५) कबीर के प्रधान शिष्य थे। कबीर के पश्चात् यही गद्दी पर आसीन हुये। इनके शब्दों में कबीर अजर-अमर व्यक्ति हैं। प्रत्येक युग में एक भिन्न-भिन्न नाम धारण करके अवतार ग्रहण करते हैं। सतयुग में सतसुकृत नाम था, त्रेता में मुनीन्द्र, द्वापर में करुणा तथा कलियुग में कबीर। कबीर सभी युगों में माया रहित होकर विराजमान रहे हैं:—

जुगन जुगन लीन्हा अवतारा। रहौं निरंतर प्रगट प्रसारा॥
सतयुग सतसुकृत कह टेरा। त्रेता नाम मुनेन्दहि मेरा॥
दोपर में करना मय कहाये। कलियुग नाम कबीर रखाये॥
चारों युग में चारों नाऊ। माया रहित रहौं तिहि ठाऊँ॥
जो जाघा पहुँचे नहीं कोई। सुर नर नाग रहै मुख गोई॥

(ग्रन्थ अवतारण पृ० ३१-३२)

धरमदास के अनुसार कबीर एक दिव्य पुरुष के रूप में दृष्टिगत होते हैं। परन्तु इस उद्धरण की अंतिम दो पंक्तियां विशेष ध्यान देने योग्य हैं। इनसे ज्ञात होता है कि कबीर माया-मोह के पाश से उन्मुक्त थे। "जो जाघा पहुंचे नहीं कोई" और "सुर नर नाग रहै मुख गोई" वहां पर कबीर "माया रहित रहै

तिहि ठाऊं।" कबीर ने जीवन पर्यन्त माया के बन्धनों से दूर रहने का उपदेश दिया है। उनकी वाणियों में अनेक ऐसे कथन हैं। इसलिए कबीर के विषय में धरमदास की अंतिम दो पंक्तियां मान्य हैं। नाभादास जी ने भक्तमाल में लिखा है:—

(१) कबीर कानि राखी नहीं वर्णाश्रम षट दरसे की।
भक्ति विमुख जो धर्म सो अधरम कर्म गायो।
जोग जग्य ब्रतदान भजन बिनु तुच्छ दिखायो॥
हिन्दू तुरक प्रमान रमैनी शबदी साखी।
पक्षपात नहिं बचन, सब ही के हित की भाखी॥
आरूढ़ दसा ह्वै जगत पर मुख देखी नाहिन भनी।
कबीर कर्म न राखी नहीं वर्णाश्रम षट दरसनी॥
(३२७ छप्पय)

(२) अति ही गंभीर मति सरस कबीर हियो।
लियो भक्ति भाव जाति पांति सब टारियै॥
(कवित्त ५१५)

(३) बीनै लानौ बानौ, हियै राम मँडरानौ।
कहि कैसे कै बखानौं, वह रीति कछु न्यारियै॥

(४) उतनोई करै जामे तन निरवाह होय।
भाय गयी और बात भक्ति लागी प्यारियै॥
(कवित्त ५१३)

इन उद्धरणों से ज्ञात होता है कि (१) कबीर ने चार वर्ण चार आश्रम छै दर्शन किसी की भी 'आनि कानि' नहीं रक्खी। केवल भक्ति को ही दृढ़ किया। भक्ति से विमुख धर्मों को अधर्म कहा। सतभक्ति से रहित तप, योग, दान व्रतादि तुच्छ बताये। आर्य और अनार्य, हिन्दू और मुसलमान को सिद्धान्त की बातों का ज्ञान कराया। (२) उनकी मति गम्भीर और अंतःकरण भक्ति से सरस था। वह भजन भाव में संलग्न रहते थे और जाति-पांति एवं वर्णाश्रम में आस्था नहीं रखते थे। (३) वे कपड़ा बुनने का उद्यम करते थे। यद्धपि बाह्य रूप से ताना-बाना का कार्य करते थे, पर अंतःकरण से ब्रह्म में ही लीन रहते थे। (४) उद्यम तो केवल उतना करते थे जितने से उनकी जीविका चल जाय। इसके सिवाय उनका चित्त पूर्ण रूपेण ब्रह्म में ही लगा रहता था। (५) कबीर अपने सिद्धान्त का समर्थन करना जानते थे। सिकन्दर द्वारा उत्पीड़ित और पाखंडियों द्वारा अपमानित होने पर भी वे अपने सिद्धान्तों से अडिग रहे। उन्हें सिद्धान्तों से विचलित करने के अनेक उपाय हुये पर वे सभी विफल होगये। भक्तमाल की इन पंक्तियों से कबीर के व्यक्तित्व पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। नाभादास के इस कथन में कहीं भी कोई अतिशयोक्ति नहीं उपलब्ध होती है। कबीर के सभी स्वाभाविक गुणों का परिचय इन उद्धरणों से प्राप्त होता है।

अकबर के समय में अबुल फ़ज़ल अल्लामी ने आइन-ए-अकबरी की रचना की। इस ग्रंथ में कबीर के लिए "मुवाहिद" अर्थात् 'एकता प्रेमी' शब्द का प्रयोग हुआ है। इस ग्रन्थ में कबीर के विषय में लेखक ने दो बार उल्लेख किया है। १२६ पृष्ठ पर उनका परिचय देते हुए लेखक का कथन है कि "कबीर

मुवाहिद यहां विश्राम करते हैं और आज तक उनके कारण और कृत्यों के सम्बन्ध में अनेक विश्वस्त जन-श्रुतियां कही जाती हैं। वे हिन्दू और मुसलमान दोनों के द्वारा अपने उदार सिद्धान्तों और पवित्र जीवन के कारण पूज्य थे।" पृष्ठ १७१ पर लेखक का कथन है कि "कोई कहते हैं कि रतनपूर (सूबा अवध) में कबीर की समाधि है जो ब्रह्मैक्य का मंडन करते थे। आध्यात्मिक दृष्टि का द्वार उनके सामने अंशतः खुला था। उन्होंने अपने समय के सिद्धान्तों का भी प्रतिकार कर दिया था।" आइन-ए-अकबरी के इन कथनों से ज्ञात होता है कि कबीर समदृष्टिवान व्यक्ति थे। वे दोनों ही वर्गों में पूज्य थे और उदार सिद्धान्तों के पोषक और प्रचारक थे।

कबीर के गुरुभाई पीपा और रैदास ने प्रायः एक से ही शब्दों में कबीर का यशोगान करते हुए कहा है:—

जाकै ईद बकरीद नित गउरे वध करै मानिये सेप सहीद पीरां।
बापि वैसी करी पूत ऐसी धरी नाव नवखंड परसिध कबीरा॥

—पीपा

जाकै ईद बकरीदि कुल गउरे वधि करहि,
मानियहि सेख सहीद पीरा॥
बापि वैसी करी पूत ऐसी सरी तिहुरे
लोक परसिधा कबीरा॥

(रैदास)

दोनों का एक ही कथन है कि मानव का भला और बुरा होना उसके कुल या जाति पर निर्भर नहीं है। कुलीनता और अभिजात्य का गर्व झूठा है। जिसके कुल में गोवध होता था,

लोग बाह्य आडम्बरों में लीन थे, उसी कबीर ने ऐसा आचरण किया कि तीन लोक नौ खंड में प्रसिद्ध हो गया। इन पंक्तियों से कबीर का विद्रोहात्मक आचरण प्रकट होता है। पीर शहीद, शेख के गुलाम, ईद बकरीद में ब्रह्म का रूप देखने वाले परिवार में उत्पन्न होकर भी कबीर ने भिन्न आचरण किया। इसके अतिरिक्त पीपा ने अनेक स्थलों पर कबीर की बड़ी प्रशंसा की है। उनकी वाणी का एक पद उद्धृत किया जाता है:—

जो कलिमांझ कबीर न होते।
तौ लै····बेद अरु कलिजुग मिलिकरि भगति रसातलि देते॥
अगम निगम की कहि काहै पांउ फला भामोत लगाया।
राजस तामस स्वावक कथिकथि इनही जगत भुलाया॥
सागुन कथिकथि मिला पनाया काया रोग बढ़ाया।
निरगुन नीक पियौ नहीं गुरुमुष तातै हाटै जीव निराया॥
बहता स्रोता दोऊ भूले दुनीयां सबै भुलाई।
कलि विद्धं की छाया बैठा क्यूं न कलपना जाई॥
अंध लुकटिया गही जु अंधै परत कूप थित थोरै।
अबरन बरन दोऊ से अंजन आषि सबन की कोरै॥
लसे पतित कहा कहि रहेते थे कौन प्रतीत मन धरते।
नाँनाँ वानी देवि सुनि स्रवन वहौ मारग अणसरते॥
त्रिगुण रहत भगति भगवंत कीतिरि, विरला कोई पावै।
दया होइ जोई कृपानिधान की तौ नाम कबीरा गावै॥

हरि हरि भगति भगत कवलीन त्रिविधि रहत थित मोहै ।
पाखंड रूप भेष सब कंकर ग्यान सुपले सोहै ॥
भगति प्रताप राण्य वेकारन निज जन आप पठाया ।
नाम कबीर साम साम पर करिया तहाँ पीपै कछु पाया ॥

भारतवर्ष में धर्म के नाम पर कौन से अनाचार और दुराचार नहीं हुये ! कबीर के समय तक धर्म का स्वच्छ सहज रूप अत्यन्त विकृत और विस्मृत हो गया था। ऐसी दशा में कबीर ने जनता को साधना का जो मार्ग प्रदर्शित किया, वही सब से अधिक कल्याणप्रद था, साथ ही समय की मांग पूर्ण करता था। कबीर का व्यक्तित्व इस दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण है। तथ्य तो यह है कि पीपा की प्रथम दो पंक्तियां कबीर के समस्त महत्व को प्रकाश में ला देती हैं।

मिर्जा मोहसिन फानी ने 'दबिस्ताने मजाहिब' में लिखा है कि :—

"कबीर जुलाहानजाद कि अज़ मोवह्हिदान मशहूर हिन्द अस्त ।
मद्दुम बारामानन गुफतन्द दरीशहर जुलाहान जादेस्त ।।"

अर्थात् "भारतवर्ष के जुलाहों में कबीर प्रसिद्ध अद्वैत ब्रह्म का उपासक था। लोग रामानन्द से कहते हैं कि इस शहर के एक जुलाहे का लड़का है जो अपने को आपका शिष्य कहता है।"

गुरुग्रंथ साहब में सिद्ध सन्तों के साथ कबीर का भी कई बार उल्लेख हुआ है। उदाहरणार्थ :—

(१) नाम छीवा कबीरु जुलाहा पूरे गुरते गति पाई ।

(२) हरि के नाम कबीर उजागर जनम जनम के काटे कागर ।

(पृ० २६४)

(३) नामदेव कबीर त्रिलोभनु सधन्न रैनु तर ।
कहि रविदास सुनहु से सबहु हरि जीउते समै सरै ॥

(पृ० ५६८)

इन सभी पंक्तियों से कबीर की भक्ति भावना पर प्रकाश पड़ता है। इस में कोई शंका की बात नहीं है कि कबीर ने सर्व प्रथम भारतीय समाज में साधना के सब पथ और वाह्याचार के भेद दिखा कर जनता को 'निःसार बातों से दूर रहने के लिये उपदेश दिया था। ज्ञात होता है कि वे दीन दुखियों की निरंतर सेवा किया करते थे। कितने ही व्यक्तियों को वे अपने घर का सामान उठाकर दे देते और उन्हें संकट से उन्मुक्त करते थे। चरणदास की निम्नलिखित पंक्तियाँ कबीर के चरित्र के उज्ज्वल पक्ष की उद्‌घाटिका हैं :—

दास कबीरा जाति जोलाहा, भये सत हितकारी ।

एक स्थल पर चरणदास ने उन्हें आध्यात्मिक क्षेत्र के सूरमों में विशिष्ट स्थान प्रदान किया :—

कबीर दादू घने पहिर बक्तर बने ।
नामदेव सारिखे बहुत कूदे ॥
सैन सदना वली भक्त पीपा बड़ो ।
राम की ओर कूं चले सूधे ॥

माया से युद्ध करते हुए "राम की ओर कूं" सूधे चलने वालों में कबीर का वास्तविक विशिष्ट स्थान है। दयाबाई और

धरणीदास ने कबीर को श्रेष्ठ भक्त और साधक माना है। उद्धरण के लिए उनकी बानियों के संग्रहों के क्रमशः पृ० २२ तथा पृ० १३, ३३ को देखा जा सकता है।

ऐसा अनुभव होता है कि गरीबदास और धनी धर्मदास कबीर से विशेष प्रभावित थे। गरीबदास ने कबीर और उन के स्वभाव तथा व्यक्तित्व के विषय में बड़ी श्रद्धा और आदर के साथ उल्लेख किया है। बात यह है कि कबीर को गरीबदास अपना गुरू मानते थे और इसीलिए उनकी दृष्टि में कबीर का बड़ा ऊंचा स्थान था। गरीबदास जी की बानी (पृ० १० से १६ तक) में कबीर के सतजुगणों का उल्लेख हुआ है। गरीबदास के अनुसार कबीर माया से रहित, स्वच्छ हृदय वाले ज्ञानवान शून्य का तत्व समझने वाले, गगनमण्डल में विचरने वाले सुरतसिन्धु के गीत रचने वाले, आनन्द के उद्गम, ज्ञान और भक्ति की साकार मूर्ति, मनुष्यों में हंस, जीवित जगदीश, चार वेद छै शास्त्र और १८ बोध के प्रकाण्ड पंडित, न्यायप्रिय जगद्गुरु, शान्ति प्रिय, मोह और माया के विनाशक, कर्म की रेख मिटाने वाले, भक्तों के सरदार, अलख को लखने वाले, सुन्नीशाखा पर निवास करने वाले और भंवर गुफा में रमने वाले थे। गरीबदास की दृष्टि में कबीर समस्त सन्तों में श्रेष्ठ हैं :—

ऐसा सतगुरु हम मिला सुरत सिन्धु के तीर।
सब संतन सिरताज है सतगुरु अदल कबीर॥

गरीबदास ने कबीर के स्तवन में प्रायः सौ साखियों की रचना की है और इन साखियों में कबीर को बड़ा सम्मान और गौरवपूर्ण स्थान प्रदान किया है। शायद ही किसी ने कबीर

के विषय में इतने विस्तार से लिखा हो। कबीरदास का अपने निरालेपन और फक्कड़पन के कारण, स्पष्टवादिता और अप्रिय सत्य कथन के कारण बड़ा विरोध हुआ। संत कवि मलूकदास भी इन से बहुत प्रभावित थे। इन की धार्मिक विचारधारा और सिद्धान्तों में कबीर की वाणी लहरें ले रहीं हैं। उन की वाणियों में कबीर के प्रति बड़े ही सम्मानसूचक शब्दों का प्रयोग हुआ है। सुमीरन प्रकरण में मलूक कबीर का आदर्श जनता के लिए प्रस्तुत करते हैं—उनका कथन है कि "सुमिरन ऐसा कीजिए जैसे दास कबीर।" यह इस बात का द्योतक है कि कबीर ने साधना बड़ी लगन से की। साधना में लगन और तत्परता के लिए कबीर मध्ययुगीन सन्तों में सब से अधिक प्रसिद्ध हैं। इसलिए मलूकदास का उन्हें इस दिशा में आदर्श मानना असंगत नहीं प्रतीत होता। मलूक को कबीर की सिद्धि पर विश्वास सा था जैसा कि निम्नलिखित पंक्तियों से ज्ञात होता है :—

हमारा सतगुरु बिरले जानै।
सुई के नारे सुमेर चलावै सो यह रूप बखानै॥
कीवौ जानै दास कबीरा कि हरिनावस पूता।
की तौ नामदेव और नानक की गोरख अवधूता॥

इन पंक्तियों के कबीर को प्रहलाद और गोरखनाथ आदि साधकों के समान पद पर व्यक्त किया गया है। यह भी उनके गौरव का द्योतक है।

दुखहरनदास मलूकपंथी थे। पर कबीर से वे भी कम प्रभावित नहीं थे। संसार की विविधिताओं को शान्त करने वालों में जहां उन्होंने गोरखनाथ, नानक और मलूक के नाम

गिनाये हैं, वहीं उन्होंने कबीर के महत्व को भी अंकित किया है। देखिये :—

जस कबीर जस गोरख जस नानक जस व्यास।
तस कलीमल जग हरन को प्रगटे मलूकदास॥

('कूपावती'—एक अप्रकाशित ग्रन्थ से)

इन पंक्तियों में मलूक को कबीर के समान व्यक्त कर के उन्हें भी महान् सिद्ध किया गया है। फिर भला कबीर के महान् व्यक्तित्व के लिये क्या कहा जाय!

कबीर को ध्रुव, प्रह्लाद और विभीषण के समान, हनुमान और अंगद के समान दास तथा रामानन्द और नानक के समान भक्त मानने वालों में शिवनारायण साहब विशेष उल्लेखनीय हैं। उनकी निम्नांकित पंक्तियां उल्लेखनीय हैं :—

ध्रुव प्रह्लाद विभीषण धीरा। पांडव पांचव धरे शरीरा॥
हनूमान, अंगद और आनी। यही विधि प्रीति करै सब जानी॥
रामानन्द कबीर गुसाईं। नानक नाम जान एक साईं॥
एक से एक समान भये, भगत यही संसार।
गुरु अन्यास सुनायहु, जो मोहि भक्ति पियास॥

(गुरुन्यास—एक अप्रकाशित रचना से)

आध्यात्मिक पक्ष में कबीर की महत्ता को स्वीकार करने वाले चरणदास ने नागरिकता के उज्ज्वल पक्ष का चित्रण भी किया है। कबीर उपकारी, परोपकारी व्यक्ति थे। उनके जीवन चरित्र से मुक्ति का मार्ग खोजने वाले पंडितों और मुल्लाओं को कबीर का यह नया प्रकाश कभी भी स्वीकार नहीं था। कबीर के सत्यावर्णों, उच्चादर्शों का उच्च वर्ग ने बड़ा उपहास किया।

देखिये गरीबदासकी ये पंक्तियां इस बात को स्पष्ट करती हैं :—

याझी मर्द कबीर है जगत करैं उपहास ।

केसो वनिजारा भाया भगत बड़ाई दास ॥

गरीबदास कबीर को धर्म, समाज और आध्यात्मिक क्षेत्र में एक महान् क्रान्तिकारी मानते थे। इतना ही नहीं वे कबीर को ज्ञान के क्षेत्र में चक्रवर्ती मानते थे :—

ऐसा निरमल नाम है, निरमल करैं सरीर ।

और ज्ञान मंडलीक है, चकवै ज्ञान कबीर ॥

इसके पश्चात् कबीर के विषय में कहने के लिए क्या कुछ और रह जाता है ?

धनी धर्मदास ने कबीर को अपने युग का महापुरुष माना है। उनके अनुसार ऐसे महापुरुष बड़े सौभाग्य से मिलते हैं। उनका संसर्ग आवागमन से मुक्त होने वाला है। (पृ० ४३) सामान्य रूप से धर्मदास ने कबीर को एक महान् संत माना है।

कबीर के विषय में संतों के उपर्युक्त कथनों को पढ़ जाने के पश्चात् कबीर के चरित्र और व्यक्तित्व की समस्त विशेषतायें स्पष्ट हो जाती हैं। समस्त संतों का कबीर के व्यक्तित्व के विषय में मत साम्य है। सभी का मत है कि वे युग के श्रेष्ठ साधक थे और उन्होंने उस मधुर ज्योति के दर्शन कर लिये थे कि जिस से समस्त संसार आलोकित है। प्रायः सभी संत कवियों ने कबीर को गोरखनाथ और रामानन्द के समकक्ष स्थान दिया है। कबीर की लोकप्रियता पर सभी का एक मत है।

संत बाउल

'बाउल' शब्द की व्युत्पत्ति विचारणीय है। इस विषय पर विद्वानों का मत-भेद है। कुछ का कथन है कि 'बाउल' संस्कृत 'बातुल' का विकृत रूप है जिसका अर्थ होता है 'बात रोगसे पीड़ित—विक्षिप्त'। दूसरों का मत है कि 'बाउल' संस्कृत के 'व्याकुल' शब्द का अपभ्रंश है जिसका अर्थ होता है 'अत्यन्त अधीर या उत्सुक।' तीसरा मत है कि बाउल बाउर (पागल) का विकृत रूप है। जो भी हो, परन्तु बाउलों में अपने प्रियतम से मिलने की बड़ी अधीरता और उत्सुकता झलकती है। सम्भव है कि उनकी उच्च कोटि की अधीरता को देख कर जनता ने उन्हें 'बाउल' अर्थात् 'चिरन्तन के प्रेम में पागल' उपाधि दी हो। समय के साथ जनता अपनी दी हुई उपाधि को विसर गई पर 'बाउल' बाउल ही बने रहे। एक सम्भाव्य और है। बाउलों में सूफी लोग भी होते हैं। सूफियों में ईश्वर के प्रेम में पागल के लिए दीवाना शब्द बहुत प्रचलित है। हो सकता है कि इसी के आधार पर इन्हें 'बाउल' कहा जाना प्रारम्भ हुआ हो और धीरे धीरे सभी 'बाउल' बन गए।

बाउलों का उत्कर्ष बंगाल के शांत, नीरव तथा सुन्दर ग्रामों में हुआ, जहां पर वर्तमान सभ्यता के उपकरण आज भी ठीक प्रकार से नहीं पहुँच सके हैं। बाउल साहित्य के माध्यम से धर्म के उपदेशों के गायक थे जिन्होंने एक समय

अपने हृदय की निष्कपट, भेद भावना रहित प्रवृत्ति तथा धर्म की सरल अभिव्यक्ति के द्वारा जनता को अपनी ओर आकर्षित कर लिया था। 'पद्मपत्र मिवांभसः' जीवन व्यतीत करने वाले उन बाउलों के सरल, सरस तथा प्रेमपूर्ण (ईश्वर के प्रति) गीतों में संगीत एवं भावुकता के साथ ही आकर्षित तथा प्रभावित करने की अद्वितीय शक्ति है। उनके हृदय से फूट निकली हुई भावों की गंगा में अवगाहन करके मानव आनन्दविभोर हो उठता है। उनके गीतों को गाकर हम भी अपनी परिस्थितियों को बिसर बाउल बन जाते हैं और उन्हीं बाउलों की भांति उसी भावना लोक में संसार की माया और उसकी क्षणभंगुरता पर क्षुब्ध हो उठते हैं।

बाउलों की विचार धारा एवं दार्शनिक चिन्तन को वर्ण तथा वर्ग की निर्बल श्रंखलायें न जकड़ सकीं। उनके पंथ के द्वार हिन्दू और मुसलमान सभी के लिए समान रूप से सदैव खुले रहे हैं और इसीलिए बाउलों में सभी जाति और सभी वर्ण के व्यक्ति एक साथ बैठ कर आराधना करते हुए दृष्टिगत होते हैं। उनका विश्वास है कि जब एक ही 'मनेर मानुष' सब घटों में विद्यमान है तो कौन हिन्दू है और कौन मुसलमान, कौन कुलीन है और कौन अन्त्यज। उनकी दृष्टि में हिन्दू और मुसलमान समान रूप से महान् हैं। उन्होंने संकीर्णता का परित्याग करके वृहत्तर मानवता की भावना का प्रचार करने का प्रयत्न किया। एक आश्चर्य की बात यह है कि सामान्यतया बाउल कहलाने वाले हिन्दू लोग वैष्णव विचारधारा के अनुयायी होते हैं और मुसलमान बाउल सूफी सिद्धांतों के अनुगामी होते हैं परन्तु फिर भी उनकी ईश्वर विषयक धारणा पूर्णतया एक है, उसमें कोई अन्तर नहीं है।

बाउलों में गृहस्थ और गृहस्थाश्रम को तिलांजलि देकर उपदेशार्थ भ्रमण करने वाले साधु दोनों ही वर्ग सम्मिलित हैं। यह आवश्यक नहीं है कि बाउल विचार धारा में दीक्षित होने के अनन्तर साधक को गृहस्थाश्रम का परित्याग कर देना पड़े। साधना और उपासना के क्षेत्र में बाउल लगन और हार्दिक प्रेम पर विशेष ध्यान देते हैं। उनका मत है कि 'प्रियतम' जब घट के अन्दर ही विद्यमान है तो फिर बाहर भटकने से क्या लाभ है परन्तु यदि गृहस्थी की शांति और एकाग्रता ब्रह्म के साथ मिलन स्थापित करने में बाधक है तो गृहस्थाश्रम अवश्य ही त्याज्य है।

बाउल साधक प्रकृत्या सामान्य जनता से भिन्न होते हैं। उनका स्वभाव, रहन-सहन, रस्म-रिवाज तथा व्यवहार निराला होता है। वे समाज के नियंत्रणों को नहीं मानते। समाज के प्रतिबन्धों द्वारा निर्मित 'राजमार्ग' पर चलना उन्हें स्वीकृत नहीं है। धर्म की रूढ़ियां उन्हें कभी भी अपने प्रति आकर्षित नहीं कर सकीं। उनका आदर्श है 'उन्मुक्त वातावरण'। वे समाज सभ्यता और व्यवहार कुशलता से दूर रह कर प्रेम के उन्मुक्त वातावरण में साधना करते हैं। उनकी आत्मा नियंत्रणों, प्रतिबन्धों के संसार से दूर—बहुत दूर रहना चाहती है जहां साधना, विचारों के आदान-प्रदान एवं पारस्परिक व्यवहार के लिए पूर्ण स्वतन्त्रता हो, स्वच्छन्दता हो।

बाउल आध्यात्मिक साधना और लौकिक व्यवहार में सादगी और सरलता प्रिय होते हैं। उनके जीवन और जगत में बाह्याचारों के लिए कोई स्थान नहीं है। उनकी आत्मा की पवित्रता धर्म के बाह्याडम्बरों से ग्रस्त नहीं होती है। इसी कारण बाउल अपने आध्यात्मिक मार्ग को 'उलटा' कहते हैं।

सत्य के उपासक और तथ्य के अनुसन्धान में जीवन अर्पण कर देने वाले व्यक्ति का मार्ग और जीवनदर्शन संसार के सामान्य जीवों से नितांत 'उलटा' होता है। ऐसा व्यक्ति दुःख और सुख के प्रभाव से परे रहता है, संसार की रीति नीति, विधान, व्यवहार आदि उसे निस्सार प्रतीत होते हैं। वह प्रेम का दीपक जलाए हुए सत्य की खोज में निरन्तर व्यस्त रहता है। वह प्रत्येक स्थिति में अविचल रहता है। ख्याति और महत्वाकांक्षा उसका स्पर्श तक नहीं कर पाती है। संसार कितना ही दग्ध होता रहे परन्तु वह उससे प्रभावित नहीं होता:—

भावेर भावुक प्रेमेर प्रेमिक हय रे ये जन।
ओ तार बिपरीत रीति पद्धति, के जाने कखन से थाके क्या मान।
तार नाइ आनन्द निरानन्द लाभि नित्य प्रेमानन्द,
आनन्द सलिले ययान तार भासछे दुनयन,
ओ से कबहु आपन मने हासे, आवार कखन वा करे रोदन।
से जवालाइये प्रेमेर बाती; बोसे थाके दिवा रातो,
भावे सागरे आकुल पाथारे डुवाइया मन,
ओंतार हस्तगत सुखेर छवि तवु करे ना सुख अन्वेषण।

वे तप, तीर्थ, छाप, माला, रोज़ा, नमाज़, आदि के विरोधी हैं। उनके मत से कुरान और पुराण द्वारा निर्दिष्ट मार्ग मनुष्य को माया में फंसा देता है। कुरान और माला साधक का चित्त भरमाते रहते हैं। जब 'मनेर मानुष' अपनी ही काया में हृदय सिंहासन पर विद्यमान है तो फिर उच्चस्वर से नमाज पढ़ने या कीर्तन करने से क्या लाभ है? बाउल

कवि कांगला हरिनाथ के शब्दों में,

"ओ मूर्ख ! ईश्वररूपी सुन्दर पक्षी तेरे हृदय में आ बैठा है। तू उसी के दर्शन कर। उसकी खोज में इधर-उधर भटकना निःसार है। उसे श्रद्धा-भक्ति रूपी फल तथा प्रेम का जल अर्पित करके घनिष्टता प्राप्त कर।"

बाउलों का यह दृढ़ विश्वास है कि जहां सत्यता है, लगन है, वहां वाह्याडम्बर ठहर ही नहीं सकते हैं। प्रेम की तीव्र धारा में वैदिक कर्म, लौकिक नियम तथा वाह्याडम्बर स्वतः बह जाते हैं। साधक के हृदय में एकाग्रता और प्रेम की दृढ़ता के साथ साथ नियमादिक ढीले पड़ते जाते हैं और एक स्थिति वह आ जाती है जहां अंतरंग और वहिरंग में कोई भी अंतर नहीं रह जाता है।

बाउलों का प्रेम दर्शन बड़ा व्यापक और गम्भीर होता है। साहित्य के क्षेत्र में उनका प्रेम सूफी और एवं कवियों के समकक्ष माना गया है। इनके प्रेम में अनुभूति की गहनता और गम्भीरता और भावनाओं में तीव्रता उपलब्ध होती है। इनका प्रेम आध्यात्मिक है यद्यपि प्रयुक्त प्रतीक एवं अभिव्यंजना शैली लौकिक प्रेम की सूचना देती है। प्रेम हृदय जगत का व्यापार है। इसमें ज़ोर दबाव के लिए कोई स्थान और अवकाश नहीं है। प्रेम का लक्ष्य होता है प्रेम और केवल प्रेम न दुःख न सुख, न प्राप्ति न ऐन्द्रिकता। साधक में प्रेमार्तिकता होना आवश्यक है। इसीलिए प्रसिद्ध बाउल कवि मदन ने कहा था कि "अरे बन्दे ! प्रेम मूल्य तो प्रेम मात्र है, न सुख न दुःख। ऐ बन्दे ! यदि तू वास्तव में ही प्रेम का प्रेमी है तो फिर प्रेम ही तेरी प्यास है और प्रेम ही तेरी भूख है।"

प्रेमेर मोल प्रेमेर बान्दा, नारे सुख ना रे दुख ।
प्रेमेर रसिक यदि रे बान्दा, प्रेम पियास प्रेम भूख ॥

इसी भाव को कबीर ने निम्नलिखित शब्दों में कहा था:—

अनजाने को सरग नरक है हरि जाने को नाहिं ।
जेहि डर ते भव लोक डरत है सो डर हमरे नाहिं ॥

प्रेम साधना एवं रहस्यानुभूति के उन्माद में साधक का जीवन इन्द्रिय जगत से बहुत ऊपर उठ जाता है। विचार शक्ति एवं भावनाओं का एकीकरण कर, वह अनन्त एवं प्रेम के अन्तिम लक्ष्य व आधार में मिलकर एक हो जाता है। यही उसकी साधना है, यही उसका उद्देश्य है। इस दशा या अवस्था में जीवन की सत्ता नगण्य हो जाती है। लौकिक एवं वैदिक बन्धन ढीले पड़ जाते हैं। इसी स्तर पर पहुंच कर वासना, स्वार्थ सिद्धि, ऐश्वर्य आदि की लालसा नष्ट हो जाती है और लोकलज्जा निःसार प्रतीत होने लगती है। इस सम्बन्ध में बाउल साधक की निम्नलिखित पंक्तियां पठनीय हैं:—

बुलुक से बुलुक बुलुक यार मने या लयगो ।
आपना पथेर पथिक आमि कारबा करि भयगो ।
आमेर बीजे हयइगो आम जामेर बीजे हयगो जाम ।
आमरे बीजे सच्चा आमि जय गुरु जय जयगो ॥

अर्थात् जिसके मन जो आए कहे। मैं तो अपने ही पथ का पथिक हूँ। मैं किसी से नहीं डरता हूँ। आम के बीज से आम ही उत्पन्न होता है तथा जामुन के बीज से जामुन और "मैं" के बीज से सच्चा "मैं"। बाउल साधक कवि जगा ने अंतस के प्रेम पर अधिक ज़ोर दिया है। अंतस में प्रेम

ज्योति के जगमगाते ही भव बन्धन एवं वाह्याचार विनष्ट हो जाते हैं। कवि के शब्दों में:—

आछे तोरइ भितर अतल सागर
तार पाइलि ना भरम ।
से था नाइ कूल किनारा शास्त्रधार
नियम कि करम ॥

अर्थात् "अरे ! तेरे ही शरीर में अतल सागर विद्यमान है। पर खेद है कि तू ही उससे अनभिज्ञ है। बाहर तू खोजता फिरता है और अपने शरीरस्थ शक्ति से अपरिचित है। उस अतल सागर का न कूल है न किनारा। न शास्त्र रूपी धारा है, न नियम है और न कर्म।"

इन्हीं वाह्याचारों की निन्दा करते हुए बाउल मदन ने कहा था कि "हे नाथ मन्दिर एवं मस्जिद ने तो तुम तक पहुंचने के सभी रास्ते ढक लिए हैं। मैं तुम्हारी वाणी को सुनता हुआ भी अग्रसर नहीं हो पाता। कारण कि गुरु एवं मुर्शिद बिगड़ खड़े होते हैं·····तुम्हारे ही द्वार पर इतने ताले पड़े हैं। हाय ! भेष और पंथ तो प्रधान ज्वालाएं हैं। यह समस्त वाह्याचार एवं सत् पथ की बाधाएं देख देख कर मदन खेद के मारे रो रहा है।" कवि के शब्दों में:—

तोमार पंथ ढ़ाइक्याछे मन्दिरे मस्जेदे ।
तोमार डाक शुनि सांई चलते ना पाइ ।
रइल्या दांडाय गुरु ने मरशेदे ॥

.....

तोर दुवारेइ नाना ताला पुरान कोरान तसवी माला ।
मेरस पर बइ तो प्रधान ज्वाला कांइदे मदन मरे खेदे ॥

प्रेम के जगत में भाषा का स्थान कहां ? इसीलिए बाउल कवि अभिनीत रहते हैं। प्रेम गोपन चाहता है। जब पक्षी डिम्ब के भीतर है तो उसका परदा टूट जाने पर वह नष्ट हो जाती है प्रेम का विज्ञापन या प्रकाशन करने से उसकी पवित्रता विनष्ट हो जाती है। इसीलिए बाउलों का 'हरामणि' गोपनीय विषय है। प्रेम के क्षेत्र में गोपनीयता के साथ ही बाउल पूर्ण-समर्पण भी आवश्यक मानते हैं। उनके मत से साधक जब ब्रह्म में अपने आपको पूर्ण रूप से समर्पित कर देता है तभी उसका अहं नष्ट होकर 'मनेर मानुष' से तादात्म्य स्थापित कर पाता है।

बाउलों के प्रेम भावना से ओतप्रोत गीतों में "मनेर मानुष" का बारम्बार उल्लेख मिलता है। इस 'मनेर मानुष' से उनका तात्पर्य है 'प्रियतम परब्रह्म' जो मन का सर्वथा स्वामी है और जो मन के सिंहासन में सर्वदा विराजमान रहता है। बाउलों ने अपने गीतों में इस 'मनेर मानुष' के लिए जो प्रेम और अधीरता प्रकट की है वह अद्वितीय है। सूफी कवियों की भांति ये ईश्वर या अनन्त शक्ति को प्रियतमा और स्वयं अपने को प्रेमी के रूप में ग्रहण करते हैं। इनका 'मनेर मानुष' कबीर के 'राम' के सदृश्य ही निर्गुण, निराकार और अद्वैत है। वह रूप-रेख, नाम-जाति आदि से परे है। उसका निवास प्रत्येक घट है। वह स्वयं 'सहज' और उसकी साधना भी सहज है। यही 'सहज' चिरंतन सत्य है। वैष्णव सहजीय और बाउलों की ईश्वर प्रेम विषयक धारणा में एक बड़ा मौलिक अन्तर है। वैष्णव सहजीय सम्प्रदाय वाले स्वयं अपने को 'राधा' और अनादि शक्ति को 'कृष्ण' मान कर प्रेम करते हैं परन्तु बाउल उस 'प्रियतम' को अपने से भिन्न नहीं पाते हैं क्योंकि वह तो

हृदय के सिंहासन पर बहुत समय से विद्यमान है। स्पष्ट है कि बाउलों का प्रेम मूलतः आत्मा का प्रेम है। धीरे धीरे एकाग्रता और साधना के माध्यम से आत्मा के रूप में वर्तमान यही दिव्य शक्ति साधक के आगे प्रत्यक्ष प्रकट हो जाती है और वह आनन्दविभोर होकर रहस्यानुभूति की अभिव्यंजना करने लगता है। अतः बाउलों के ईश्वर प्रेम को आत्मज्ञान साधना कहना अधिक उचित होगा। इस 'मनेर मानुष' की खोज में तीर्थ-मन्दिर-मस्जिद में भटकना उपयुक्त नहीं है क्योंकि वह हृदयस्थ है और आत्मज्ञान के द्वारा सुलभ है। फकीरचन्द के शब्दों में —

यास्वन आमार मनेर मानुष को थाय पांइ।
यार तरे मन-खेदे प्राण कांदे सर्वदाइ।
फकीरचन्द कये मनरे तोमारे।
ओ तोर मनेर मानुष हृदे आचे खुमजे ने तारे
क्यां घूरे व्याड़ास देस विदेसे यामन हावा आरनो
देखी नाइ रे॥

अज्ञानी उसे उसी प्रकार खोज पाने में असमर्थ है यथा बदलों से आच्छादित आकाश में चन्द्रमा के दर्शन कठिन हो जाते हैं। आध्यात्मिक साधना के द्वारा माया के आवरण विनष्ट हो जाते हैं और साधक अपने परम लक्ष्य को प्राप्त ही कर लेता है। बाउल कवि हरिनाथ के शब्दों में:—

आचे पूर्णिमार चांद मेघे ढ़ाका।
चांदेर निसे विन्दु सखा।

मेघेर आड़े चांद रायेछे
मेघ केते (कटे) चांद उदय करा,
सेड़ा केवल कथार कथा ।
मदन बले अन्धकारे बन्दा हाये राली एका,
याहार आछे मुर्शिद सखा साई से पवि चादेर देखा ॥

बाउलों की आध्यात्मिक विचार धारा में सूफी तथा सहजीय सिद्धान्तों का विचित्र समन्वय उपलब्ध होता है। सर्व प्रथम सहजीय प्रभाव पर विचार करना अपेक्षित है। सर्वप्रथम सहजीय वाह्याडम्बरों के नितान्त विरुद्ध होते हैं। यही बात बाउलों में भी पाई जाती है और इस दृष्टिकोण से विचार सविस्तार ऊपर प्रकट किए जा चुके हैं। दूसरे, सहजीय सम्प्रदाय में गुरुदेव की बड़ी महत्ता और सम्मानित पद होता है। यही बात बाउलों के 'मुर्शिद गानों' से झलकती है। तीसरे, सहजीयों के अनुसार मानव शरीर में संसार का संक्षिप्त स्वरूप सत्य वर्तमान रहता है। बाउलों के काव्य में इसके प्रमाण भरे पड़े हैं तथा बाउलों की ईश्वर विषयक विचार धारा में यह तत्व प्रधानता लेकर समक्ष आता है। इस बात से भी मुख नहीं मोड़ा जा सकता है कि इन बाउलों ने सहजीय विचार धारा को बहुत कुछ अपनाया और उसमें नवीनता दी है। उन्होंने बहुत विषयों में सहजीयों के जटिल या पिटे हुए मार्ग को त्याग कर नवीन आदर्श उपस्थित किए। उदाहरणार्थ ब्रह्म विषयक धारणा में बाउल सहजीयों से सहमत होते हुए भी नवीनता रखते हैं। बाउलों के प्रेम और विरह सम्बन्धी धारणा पर सूफियों की छाप अंकित है।

बाउल भ्रमणशील प्राणी होते हैं। जिस

प्रकार निस्सीम आकाश में पक्षीगण उन्मुक्त कंठ से कलरव करते हुए आनन्दपूर्वक विचरण करते हैं उसी प्रकार बाउल भी यत्र-तत्र भ्रमण करते हुए अपने गीतों से जनता को अभिनन्दित करते हुए और उसे 'सत्य मार्ग' प्रदर्शित करते हुए भ्रमण किया करते हैं। वृक्षों की छाया ही उनके भवन हैं, भिक्षार्जन ही उनका आधार है और संसार उनका कुटुम्ब है। बाउलों की कविता में हृदय के भावों की सरल अभिव्यक्ति उपलब्ध होती है। उनका काव्य उनके जीवन के समान ही वाह्याडम्बरों से परे है। आज जब मानव जीवन असन्तोष का प्रतीक बनता जारहा है, जब मानव प्रतिहिंसा, प्रतारणा, प्रवंचना की ज्वाला में झुलसा जारहा है, जब संघर्ष बाहुल्य के कारण मानव दानवीय वृत्तियों को अपनाता जारहा है, निश्चय ही उसका प्रभाव बड़ा कल्याणकारी और शान्तिप्रद होगा।

सन्तों के काव्यादर्श

साहित्य (काव्य) जीवन का सुसंस्कृत एवं साध्य रूप है। साहित्य का आधार मानव जीवन है। साहित्य जीवन की आलोचना एवं मापदण्ड है। साहित्य जन जीवन एवं समाज का उन्नायक है। साहित्य का जनता के प्रति महान् उत्तरदायित्व है। साहित्य का प्रयोजन एवं जीवन का प्रयोजन अथवा उनके अंतिम लक्ष्य में परस्पर नैकट्य का सम्बन्ध है। यदि साहित्य जीवन से प्रभावित भी है तो वही साहित्य जीवन दर्शन के लिए उपयोगी तथ्यों एवं तत्वों की सर्जना भी करता है।

साहित्य के प्रयोजन के विषय में आचार्यों में मतभेद है। आचार्य मम्मट के अनुसार यश, द्रव्य, व्यवहार ज्ञान, दुःखनाशादि काव्य रचना के मूल प्रयोजन हैं।[1] आचार्य मम्मट ने काव्य के स्वरूप में गुण अलंकार व्यंग्यार्थादि की अनिवार्यता मानी है[2]। इससे स्पष्ट है कि लौकिक एवं अलौकिक आनन्द काव्य के लिए चमत्कार का अपना महत्व है। कतिपय विद्वान आनन्द को ही काव्य का मूल प्रयोजन मानते

---

(१) काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कांता सम्मिततयोपदेशयुजे।
काव्यप्रकाश श्लोक २

(२) काव्यप्रकाश ३-५

हैं [१]। भामह के मत से काव्य धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष की प्राप्ति का साधन है। [२] 'साहित्य-दर्पणकार' भामह के प्रस्तुत कथन से पूर्णतया सहमत है।[३] भरत, आनन्दवर्धन एवं अभिनवगुप्त आदि विचारक नैतिकता एवं धार्मिकता के विकास के लिए प्रयोजनीय नहीं मानते। पाश्चात्य लेखकों में स्पिनगार्न के मत से काव्य का उद्देश्य शिक्षा एवं आनन्द देना नहीं है वरन् उसका लक्ष्य है अभिव्यक्ति।[४] स्पिनगार्न से साम्य रखने वाला ब्रेडले का मत है। ब्रेडले के अनुसार काव्य स्वयं अपना साध्य है वह धर्म, संस्कृति, शिक्षा आदि का साधन नहीं है। टाल्सटाय के अनुसार काव्य की मुख्य कसौटी नीति और धर्म है।[५] मैथ्यू आर्नाल्ड नैतिकता के प्रति विद्रोही एवं उदासीन

---

(१) सकल प्रयोजन मौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादन समुद्भूतं विगलितवेद्यांतरमानन्दं। सिद्धान्त और अध्ययन पृ० ४५

(२) धर्मार्थ काममोक्षेषु वैचक्षण्यकलासु च।
प्रीतिं करोति कीर्तिञ्च च साधुकाव्य निषेवणम्॥
सिद्धान्त और अध्ययन पृ० ४५

(३) सिद्धान्त और अध्ययन पृ० ४५

(4) We have done with all moral judgement of art.....Some said that poetry was meant to instruct. Some merely to please, some to do both. Romantic criticism first enunciated the principle that art has no aim except expression; that its aim is complete when expression is complete; that beauty is its own excuse for being.

(5) In every age and in every human society there exists a religious sense of what is good and what is bad common to that whole society, and it is this religious conception that decides the values of the feelings transmitted by art.

What is Art (Oxford) 128-129

काव्य को जीवन के प्रति विद्रोही एवं उदासीन मानता है।[1] टी० एस० इलियट के अनुसार कविता का नैतिकता, धर्म भावना और संभवतः राजनीति से भी कुछ सम्बन्ध अवश्य है यद्यपि हमें नहीं ज्ञात कि वह सम्बन्ध क्या है।[2] आई० ए० रिचर्डस् का मत अंशतः मम्मट से मिलता है। उसके अनुसार कवि अपनी कविता स्वांतःसुखाय या उपदेश देने के लिए करते हैं, अथवा दोनों दृष्टिकोणों से भी।[3] पाश्चात्य विचारक प्लेटो, आरिस्टाटिल, होरिस, दांते, मिल्टन, एव शैली भारतीय विचारक भरत, आनन्द वर्धन एवं अभिनव गुप्त के अधिक निकट हैं। इस प्रकार उपर्युक्त विद्वानों के मतों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि एक वर्ग नैतिकता आदि के लिए काव्य को प्रयोजनीय मानता है। द्वितीय वर्ग इसके विरुद्ध है। एक वर्ग स्वांतःसुखाय काव्य को प्रयोजनीय मानता है दूसरा वर्ग बहुजन हिताय। पर इतना तो निश्चय है कि काव्य या साहित्य हमारी अनुभूतियों को तीव्र करने के लिए अत्यधिक प्रयोजनीय है।

---

(1) A Poetry of revolt against morals, is a poetry of revolt against life : a poetry of indifference towards moral ideas is a poetry of indifference towards life.

(2) .....Poetry as certainly has something to do with morals and with religion, and even with politics perhaps, though we cannot say what.

The Sacred Wood 1928 Edn.

(3) The poets either wish to instruct or to delight or to combine the both — Principles of Literary criticism.

भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों के काव्यादर्श एवं काव्य प्रयोजन का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि हिन्दी के सन्त कवियों में से किसी ने उपर्युक्त आदर्शों एवं प्रयोजनों में से एक को भी नहीं स्वीकार किया। संतों के काव्य से स्पष्ट है कि उन्हें लौकिक ऐश्वर्य एवं यश की लालसा नहीं थी। जिन संतों ने संसार एवं समाज को तुच्छ व सारहीन समझकर उसका परित्याग कर दिया था, उनके लिए काव्य द्वारा व्यवहार की शिक्षा महत्वहीन थी। सन्तों ने रूढ़ियों के विरुद्ध विद्रोह और क्रांति की। अतः शिव-अशिव, मांगलिक-अमागलिक भावना से काव्य रचना उनके लिए निःसार थी। सन्तों का काव्य इस बात का प्रमाण है कि उन्होंने काव्य का कोई प्रचलित आदर्श नहीं गृहण किया। काव्य, काव्य शास्त्र, छन्द, पिंगल आदि के नियमों का न उन्होंने अध्ययन किया था न इन सब के प्रति कोई आस्था थी। इसके विरुद्ध उन्होंने काव्य और काव्य शास्त्र के अन्य आवश्यक तत्वों की निंदा एवं आलोचना की। परन्तु काव्य शास्त्र के नियमों से अनभिज्ञ भी काव्य रचना कर सकता है, यह बात सन्तों ने प्रमाणित कर दी। सन्तों ने यह सिद्ध कर दिया कि भाव ही काव्य की आत्मा है और जब काव्य की आत्मा दृढ़ और उच्च है तब फिर वाह्यावरण और अन्य उपकरण तो स्वतः जुट जायेंगे। सन्तों ने कविता की रचना सचेष्ट होकर नहीं की, न उन्होंने काव्य शास्त्र का अध्ययन ही किया था। फिर भी चूंकि उन्होंने कविता लिखी इसलिए वह उपेक्षणीय साहित्य नहीं है। ध्यानपूर्वक सन्त साहित्य का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि सन्तों के साहित्य में उनके काव्यादर्शों की अभिव्यक्ति हुई है। सन्तों ने काव्य को कला की दृष्टि से नहीं देखा। न उन्होंने काव्य

एवं कवि को समाज का सामान्य व्यक्ति ही माना है। पर उन्होंने काव्य को स्वभावाभिव्यक्ति का माध्यम बनाया इसलिए उनका काव्य अध्ययनीय है। इन कवियों की रचनाओं में उनके काव्य विषयक आदर्श निहित मिलते हैं। कवि चाहे महान् हो या साधारण पर उसकी कविता से काव्यादर्शों को खोज निकालना सरल कार्य नहीं है। काव्यादर्श खोज की दृष्टि से सन्तों के काव्य में एक और कठिनाई उत्पन्न होती है। प्रायः सभी सन्तों के काव्य में एक ही विचार धारा प्रवाहमान है। सभी ने ब्रह्म और जगत को प्रायः एक ही दृष्टिकोण से देखने का प्रयत्न किया है। कविता के प्रति भी सभी की प्रायः एक ही धारणा थी। अतः उन में नवीनता की सम्भावना नहीं है।

देश की राजनैतिक एवं ऐतिहासिक परिस्थितियों के फलस्वरूप देश का साहित्य प्रत्येक युग में नवीन रूप ग्रहण करता गया। सिद्ध काव्य से लेकर सन्त-काव्य तक हिन्दी साहित्य की धारा अनेक बार एक नवीन दिशा की ओर प्रवाहित हुई। फलतः धारा के प्रत्येक नवीन परिवर्तन पर काव्यादर्शों में परिवर्तन परिलक्षित होता है। हिन्दी कविता के आदि काल से संत काव्य तक कविता में दो विशेष प्रवृतियां उपलब्ध होती हैं। प्रथम प्रवृति है धार्मिकता और द्वितीय चारण प्रवृत्ति है। अतः इस सम्पूर्ण काव्य का आदर्श धार्मिकता तथा वीरों एवं सामन्तों की प्रशंसा और उसका कला विषयक आदर्श संस्कृत काव्य तथा संस्कृत काव्य शास्त्र है।

सिद्ध युग सन् ७६०-१३०० ई० तक माना जाता है। इतिहासकारों ने इसे हिन्दी काव्य का आदि युग माना है। सिद्धों के काव्य को देखने से प्रकट होता है कि उनकी दृष्टि में

काव्य शास्त्र विषयक कोई स्पष्ट विचार नहीं था। इन कवियों ने स्वविचार अभिव्यक्ति एवं अपने सिद्धान्तों को जनता तक पहुंचाने के हेतु काव्य का आश्रय ग्रहण किया। सरल भाषा में रहस्यानुभूति की अभिव्यक्ति, योग क्रियाओं का वर्णन एवं वाह्याडम्बरों की आलोचना कर के धर्म के सहज स्वरूप की अभिव्यक्ति ही इन सिद्धों का उद्देश्य था। सामान्यतया इस युग के अधिकांश कवि संस्कृत कवियों के काव्य एवं काव्य शास्त्र का ही आदर्श परिपालन करते हैं। इन में से कुछ कवियों ने रामायण, महाभारतादि को भी आदर्श माना है। स्वयंभू ने इसी आदर्श से प्रेरित होकर रामायण और हरिवंश-पुराण की रचना की और पुष्पदंत ने महापुराण, जसहर चरिउ, णायकुमार चारिउ आदि। रामायण की रचना प्रारम्भ करने के पूर्व स्वयंभू ने तुलसीदास की भांति आत्महीनत्व, काव्य-कला व्याकरण, पिंगल अलंकार, छन्दादि से अन-भिज्ञता प्रकट की है। कवि के शब्दों में 'स्वयंभू बुद्धिमानों से नम्र निवेदन करता है कि मेरे सदृश्य अन्य कुकवि नहीं है। मुझे व्याकरण का ज्ञान नहीं है, न वृत्तिसूत्र वर्णन की शक्ति ही रखता हूँ, न पांच महाकाव्य सुने हैं, न भरत के शास्त्र से परिचित हूँ, न छन्दों के लक्षणों का ज्ञाता हूँ, न पिंगल का विस्तार ज्ञात है न भामह एवं दण्डी लिखित अलंकार से ही परिचित हूँ।'[1] अपने को काव्य के समस्त गुणों से विहीन

(१) बुह-यण सयंभु पइँ विण्णवइ। महु सरिसउ अण्ण णाहि कुकइ।
वायरणु कयाइ ण जाणियउ। णउ वित्ति-सुत वक्खाणियउ॥
णा णिसुणिउ पंच महाय कव्वु। णउ मरहु णलक्खणु छंदु सव्वु॥
णउ बुज्झिउ पिंगल पच्छारु। णउ भामह दण्डियु, लंकारु॥
—हिन्दी काव्य धारा राहुल सांकृत्यायन पृ० २२

उद्घोषित करते हुये स्वयंभू को अलंकार, छन्द, समास आदि का भला ज्ञान था और उन्होंने काव्य की धारा के दोनों कूलों पर लोक भाषा को उज्ज्वल तट माना है। इस से स्पष्ट है कि स्वयंभू लोक भाषा को काव्य के लिए विशेष उपयोगी मानते थे। इस दृष्टि से कवि का भाषा विषयक यह काव्यादर्श महत्वपूर्ण है :—

अक्खर-वास-जलोह-मणोहर । सुयलंकार-छन्द-मच्छोहर ॥

दहि-समास-पवाहा-वंकिय । सक्कय-पायय-पुलिणा-लंकिय ॥

देसी-भासा-उभय-तडुज्जल । कवि दुक्कर-घण-सद्द-सिलायल ॥

अत्थ-बहल-कल्लोला णिट्ठिय । आसा-सय सम-ऊह-परिट्ठय ।

राम-कहा सरि एँह सोहती । ..... ॥

हिन्दी काव्य धारा पृ० २६

अर्थात अक्षर जिस में मनोहर जोंक है, सुन्दर अलंकार, छन्द मछलियां हैं। दीर्घ समास वंकिम जल प्रवाह है। संस्कृत प्राकृत के पुलिन बने हुये हैं। देशी भाषा के दो उज्ज्वल तट हैं। कविष्यों के हेतु दुष्कर घने शब्दों का शिलातल है। अनेक अर्थों वाली कल्लोलें हैं। सैकड़ों आशाओं के समान तरंगें उठती हैं। राम कथा की सरिता इस प्रकार शोभित है।

उपर्युक्त उद्धरण इस बात के पोषक हैं कि स्वयंभू संस्कृत महाकाव्यों के काव्यादर्श के पालक थे। हां लोक भाषा को इतना महत्व प्रदान करना कवि की मौलिकता एवं नवीनता थी। स्वयंभू के अनुसार सुकवि वही है जो अपनी भाषा में काव्य रचना करे :—

कइ अत्थि अणेअ-भेअ भरिया ।
जे सुयण सहासहिं आयरिया ॥

—हिन्दी काव्य धारा पृ० २४

सिद्ध और जैन कवियों में अनेक ऐसे हुए हैं जिन्होंने पंडित, अक्षर ज्ञान, ग्रन्थ रचनादि की बड़ी निन्दा की है। इन कवियों के समक्ष ग्रन्थ रचना, मूढ़ता है। कारण कि जिस ग्रन्थ रचना से परम तत्व के दर्शन न हों उस रचना का अस्तित्व सारहीन है। सरहपा,[१] कण्हपा,[२] देवसेन[३] योगीन्दु,[४] आदि इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं। रामसिंह ने ग्रन्थ की रचना करने वाले पंडित की बड़ी तीव्र आलोचना की है।

पंडिय पंडिय पंडिया कण छंडिवितुस कंडिया ।
अत्थे गंथे तुट्ठोसि, परमत्थु ण जाणहि मूढ़ासि ॥[५]

सिद्ध युगीन कवियों में पुष्पदन्त, अब्दुर्रहमान, बब्बर अज्ञात कवि आदि ने जनता की दशा, गरीबी, अकाल आदि का भी वर्णन किया है। इस से ज्ञात होता है कि इन कवियों ने काव्य को जीवन के लिए प्रयोजनीय माना था। इतना ही नहीं इन कवियों में यह भावना भी जागृत थी कि कविता जन जीवन का चित्र है। इस प्रकार सहज सरल शैली में आडम्बर रहित ढंग से स्वभावनाओं की देशी भाषा में अभिव्यक्ति ही सिद्ध जैन कवियों का काव्यादर्श था।

इन सिद्ध कवियों के पश्चात् नाथ-कवियों का काव्य

---

(१) हिन्दी काव्य धारा पृ० ४ (२) हिन्दी काव्य धारा पृ० १४६
(३) ,, ,, १७४ (४) ,, ,, २४८
(५) ,, ,, २५६

विचारणीय है। गोरखनाथ नाथ सम्प्रदाय के प्रतिनिधि कवि हैं। गोरखनाथ के अनुसार वेद, किताब, कविता, साखी और बानी तत्वज्ञान प्राप्त करने में सहायक नहीं वरन् बाधक हैं। परब्रह्म का ठीक निर्वचन करने में ये किसी प्रकार सहायक नहीं हैं। ये समस्त उसे आच्छादन के नीचे ले आये हैं। इनके द्वारा वह सत्य रूप अस्पष्ट हो जाता है[1]। इसी प्रकार अनेक स्थलों पर कवि ने बानी, साखी के लेखक, ग्रन्थों के रचयिता को सम्मानित व्यक्ति नहीं माना है। कवि के अनुसार ये स्वतः भ्रम में पड़े हुए जीव हैं और भ्रम के प्रचारक हैं। इससे स्पष्ट है कि 'नाथ सम्प्रदाय के योगियों' ने काव्य को उच्च कला नहीं माना है। काव्य का उनकी दृष्टि में कोई महत्व भी नहीं था। इन कवियों ने भाषा के विषय में भी कुछ नहीं कहा है। पर इनकी कविता तत्कालीन जनता को अत्यधिक सरल भाषा में व्यक्त हुई है। नाथ कवियों की रचना का आदर्श रहस्यवाद, लौकिक तत्वों की तीव्र आलोचना एवं पारलौकिक तत्व की भक्ति का चित्रण करना था। इनमें शब्दों के प्रयोग की कला और कौशल तथा माधुर्य भिन्न कोटि का है।

शब्दों के प्रयोग की कला एवं कौशल तथा उच्च कोटि का माधुर्य तो विद्यापति की कविता में उपलब्ध होता है। विद्यापति के काव्य रचना का आदर्श प्रेम एवं शृंगार है। विद्यापति ने एक सजग कवि की भांति अपने काव्य की रचना की। स्वयंभू की भांति उन्होंने आत्म लाघव नहीं प्रदर्शित किया। उन्होंने अपने आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने के लिए

---

(१) वेद कतेब न पाणीं बांणी। सब ढूंकी तलि-आणीं॥
गगन सिषर महि सबद प्रकास्या। तंह बूझै अलष बिनाणीं॥
गोरखबानी पृ० २।४

काव्य लिखा। शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से विद्यापति ने अपनी पदावली की रचना की। वे काव्य को ईश्वरदत्त प्रतिभा मानते थे। विद्यापति के मत से काव्य का चरम उद्देश्य नागरों, रसिक या श्रीमानों का मनोरंजन है[1]। विद्यापति ने काव्य के हेतु लोकभाषा को सर्वाधिक उपयुक्त माना है। लोकभाषा में अद्वितीय माधुर्य और मोहकता होती है इसीलिए विद्यापति ने "देसिल बअना" को काव्य का माध्यम बनाया है:—

सक्कय वांणी बुहयन भावई पाउंअ रस को मम्म न पावई।
देसिल बअना सब जन मिट्ठा तें तैस न जम्पाओ अवहट्ठा॥

—कीर्तिलता, प्रथम पल्लव।

अर्थात् संस्कृत केवल विद्वानों की प्रिय भाषा है, प्राकृत भाषा में रस का मर्म नहीं उपलब्ध होता है, (पर) देशी भाषा सभी को सहज प्रिय प्रतीत होती है अतः मैं 'अवहट्ठा' में स्वकाव्य की रचना करता हूँ। उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि कवि का काव्य विषयक आदर्श लोक भाषा है और वह उसे श्रीमानों के मनोरंजन करने का साधन मानता है। अतः चमत्कार उसका अभिन्न तत्व है।

विद्यापति जहां एक ओर काव्य को ईश्वरदत्त प्रतिभा और एक विशेष कला मानते हैं उसके विपरीत निर्गुण धारा के प्रवर्तक संत कबीर कविता को निःसार वस्तु मानते हैं। कबीर ने कवि और कविता के विषय में कुछ अधिक नहीं कहा

(१) बाल चन्द बिजावइ भाषा। दुहु नहि लागइ दुज्जन हासा।
ओ परमेसर हर सिर सोहई। ई निच्चय नायर मन मोहइ॥
—कीर्तिलता—प्रथम पल्लव

पर उनके काव्य में उपलब्ध दो तीन साखियां प्रमाणित करती हैं कि कबीर की दृष्टि में कवि सम्मान्य व्यक्ति नहीं था। कारण कि वह तत्व को त्याग कर सारहीन पदार्थों में रमा रहता है। कबीर कवि को मृत समझते थे:—

'कवि कवीने कविता मुये'

कबीर ग्रन्थ रचना और काव्य लेखन को व्यर्थ परिश्रम समझते थे। कारण कि इसके द्वारा कभी कोई परमतत्व को प्राप्त करने वाला पंडित न बन सका[1]। कबीर प्राकृत विषयों पर काव्य रचना के लिए लेखनी उठाने के बहुत विरुद्ध थे। वे कविता को जग जमजाल के गुण-गान का माध्यम बनाने के विरोधी थे। उनकी दृष्टि में वही वास्तविक कवि है जो ब्रह्म के साक्षात्कार का गायन अथवा रचना करे। कवि के शब्दों में ही:—

जग भव का गावना का गावै।
अनुभव गावै सो अनुरागी है॥

भाषा के विषय में भी कवि का अपना आदर्श है। कबीर काव्य की अभिव्यक्ति के लिए संस्कृत गर्भित भाषा की तुलना में लोकभाषा, या दैनिक जीवन में बोलचाल की भाषा को अधिक उपयोगी समझते थे। संस्कृत एक सीमित समूह की भाषा है अतः उससे केवल कतिपय व्यक्ति लाभ उठा सकते हैं। परन्तु देशी भाषा जनता की भाषा है अतः वह सभी के लिए सुगम एवं सरल सिद्ध हो सकती है। कबीर संस्कृत को कूपजल के समान सीमित मानते थे और भाषा (जन साधारण की बोली) को वे सरिता के स्वच्छ एवं स्वस्थ जल के समान सर्व उपयोगी मानते थे:—

---

(१) पढ़ि पढ़ि पोथी जग मुआ पंडित भया न कोइ।

"संसकीरत है कूपजल भासा बहता नीर।"

अतः स्पष्ट है कि कबीर स्वाभाविक सरल भाषा को ही काव्य रचना का उपयुक्त माध्यम मानते थे। कबीर साहित्य और कला को जनता से दूर की वस्तु नहीं मानते थे। भाषा आदर्श यह सिद्ध करता है कि कबीर कला को जन जीवन से कभी भी भिन्न नहीं मानते हैं। काव्य और कला जनता के नैतिक स्तर और जीवन की धारा को व्यवस्थित करने का एक अमूल्य साधन है। जो भाषा या काव्य जनता की पहुंच से दूर है उसे वे संसार के हेतु उपयोगी नहीं मानते हैं।

संत कवि नानक साब्दी और साखी रचना को ब्रह्म के प्रति वास्तविक प्रीति स्थापित करने में बाधक मानते हैं। उनके मत से शब्दों और साखियों में अभिव्यक्त प्रेम वास्तविक नहीं है, वह केवल वाह्य दिखावा है। छन्दों में हृदय के सच्चे भावों की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है। इसीलिए इनका रचयिता निश्चय ही यमपुर में दुःख का भागी बनता है। शब्दों व साखियों की रचना में प्रवृत्त मानव व्यर्थ ही अपना समय (हरि नाम स्मरण के बिना) नष्ट करता रहता है।

शब्दन साखी सची नहीं प्रीति।
जमपुर जाहिं दुखाँ की रीति॥
(प्राण संगली पृ० २४)

इसी प्रकार नानक ने पुस्तक ज्ञान, वेद, कतेब आदि की निन्दा अनेक साखियों में की है[1]। इससे स्पष्ट है कि कवि की

---

(१) वेद कतेब तिनि मोहिआ से फूफ सुणावहि लोइ।
नरक सुर्ग पत्थर दिसै चिहु गुण सहसा होइ।
पूछहुं वेद पढ़ँ तिन्नाँ विणु नावै मुठी रोई॥
—प्राण संगली पृ० २१७

दृष्टि में काव्य रचनादि का महत्व नहीं है। सम्भवतः नानक के समकालीन अथवा पूर्ववर्ती कवि काव्य को ख्याति, यश, नाम आदि प्राप्त करने का साधन मानते थे और भांति भांति के भावों की अभिव्यक्ति करके महत्व प्राप्त करने में सफलीभूत हो रहे थे। इसी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप कवि ने शब्द-साखी के रचयिता कवि की अंतिम दुर्दशा का चित्र "जमपुर जाहिं दुखां की रीति" में अंकित किया है।

संत कवि मलूक दास का काव्यादर्श कबीर और नानक की अपेक्षा अधिक स्पष्ट है। कवि के अनुसार भाषा और छन्द के सांचे में साखियों को ढालना न तो वास्तविक कवित्व शक्ति का परिचायक है, न दृढ़ एवं सत्य प्रेम का ही स्थापक है। फिर ऐसे निष्प्रयोजन काव्य से क्या लाभ है। जो काव्य न हृदय की सच्ची अनुभूति ही माना जा सकता है, न कला की दृष्टि से उच्च उससे किसका कल्याण हो सकता है[1]। मलूकदास प्राकृत विषयों पर काव्य रचना को हेय समझते हैं। कवि के मत-अनुसार यदि काव्य रचना करना ही है तो उस ब्रह्म की प्रशंसा व गुणगान में करना चाहिए जिसके आधार पर संसार में अस्तित्व है:—

अदम कबित्त का जिसकी कबिताई करूँ,
याद करूँ उसको जिन पैदा मुझे किया है॥
गर्भ बास पाला आतस में नहिं जाला,
तिसको मैं बिसारूँ तो मैं किसकी आस जिया हूँ[2] ॥

---

(१) भासा छन्द जुटाय बैठै साखि बनाय।
संतो यह तो प्रेमनीसान न आय॥ (शब्द संग्रह)

(२) मलूकदास की बानी पृ० ३१

मलूकदास की दृष्टि में वही रचना कविता है जिसमें ब्रह्म का गुणगान हो। अतः लेखक का काव्यादर्श ब्रह्म का गुणगान मात्र है।

संत कवि जगजीवन साहब ने अपनी रचनाओं में वेद, पुराण, ग्रन्थ आदि की कटु निन्दा की है। उनके अनुसार बिना भजन, बिना भक्ति सब निःसार है चाहे काव्य रचना हो या ग्रन्थ रचना। अनेक पुराणों का पारायण करता हुआ, अहर्निश कविताई करता हुआ मानव बिना ब्रह्म के ज्ञान के निःसार है। तत्व के अभाव में कवि व्यर्थ ही तत्व रहित पदार्थों में फंसे रहते हैं:—

पढ़ै पुराण ग्रन्थ रात दिन करै कविताई सोई।
ज्ञान कथै शब्द कहै कहु तबहू भक्ति न होई॥

शब्द संग्रह पृ० ७५

तुक जुटा कर काव्य की रचना कर लेना कठिन कार्य नहीं है। परिश्रम एवं लगन समस्त कठिनाइयों का हल है। परन्तु जिसे शब्द रचना से प्रेरित होकर साधक निशि दिन ब्रह्म की आराधना में प्रवृत्त हो जाय वही काव्य सार्थक काव्य है, और उसी कवि का प्रयास सफलीभूत कहा जा सकता है[१]। ज्ञान उस दिव्य शक्ति की कृपा बिना नहीं प्राप्त हो सकता है चाहे कविताई करने में मानव तन मन को ही क्यों न नष्ट कर डाले[२]। जिन व्यक्तियों के हृदय में सत्य नाम के प्रति प्रेम

(१) राति दिन छिन नाहि दूरै भक्त सोई अहै।
जगजिवनदास संत कोई कोई शब्द की गति कहै॥
—शब्दसागर ६६

(२) सुनु बिनु कृपा भक्ति नहिं होई।
ज्ञान कथि कवि पढ़ै पण्डित डारित न मन खोई॥ श० सा० ७८

नहीं है वे भांति भांति से बाह्य आडम्बरों के द्वारा उस अभाव की पूर्ति करते हैं। ब्रह्म से सहज प्रीति स्थापित करते ही भेष आदि का भ्रम विनष्ट हो जाता है और भक्ति अपने शुद्ध रूप में निखर आती है। जगजीवन साहब के अनुसार जिस प्रकार भेष के बाह्याडम्बर माला, तिलकादि हैं उसी प्रकार वाणी के बाह्याडम्बर हैं शब्द, साखी एवं कविता आदि। वस्तुतः ये निःसार पदार्थ हैं। इनका परित्याग करके ही शुद्ध, सहज भक्ति के द्वारा ब्रह्म की आराधना सम्भव है:—

साधो भेष बांधि गकिलाने।
रहे भेष भेद तब छूटहि सहज रीति मन जाने।
जबते माला कंठी पहिरी गर्व भयो इतराने।
साखी शब्द बहुत सिखि लीन्हिनि वाद विवादहि ठाने।

शा० सा० १६२

कवि कविता को विवाद एवं बाह्य प्रदर्शन का एक साधन मानता है, जो कभी भी साधना में सहायक नहीं हो सकती है:—

कलि महं कठिन विवादी भाई,
कानि संत की मानत नाहीं मन आवै तस गाई॥
बहु विद्या पढ़ि शब्दं साखी जहा तहा गोहराई।
दाम काम रस बसनि सुवासर रचि बहु भेष बनाई॥
करिकै स्वांग पुजांवहिं सबते नहीं विवेक करि जाई।
विज्ञानी ज्ञानी कविता में नाम दीन्ह विसराई॥

—शब्द सागर पृ० १६३

उपर्युक्त उद्धरणों से जगजीवनदास का काव्यादर्श परिलक्षित होता है। कविता को जगजीवनदास साधना के लिए बाधक एवं वाह्याडम्बर मानते हैं। इन वाह्याडम्बरों से आच्छादित होने के कारण हम साधना का वास्तविक स्वरूप पहचानने में असमर्थ हो जाते हैं।

संत कवि शिवनारायण साहब का काव्य आदर्श ब्रह्म के गुणों की अभिव्यक्ति है। ब्रह्म की स्तुति से पूर्ण भाषा ही कवि के मत से कविता है:—

कविता अस्तुति पूरन भाखा।
शिवनारायन चित-से राखा॥

—गुरु अन्यास पृ० १६

शिवनारायण साहब ने उसी सावदी और कविता को कल्याणकारी माना है जिसमें सन्तों द्वारा ब्रह्म का गान हुआ हो:—

संत सवद सुनि भौ अनुरागा।
बिनु गुरु भक्ति मुक्ति किमि लागा।

वही पृष्ठ ६

मलूकदासी सम्प्रदाय के प्रख्यात कवि संत दुःखहरनदास ने अपनी काव्य रचना का कारण निम्नलिखित पंक्तियों में व्यक्त किया है :—

मोहि जस ग्यान रहा हिय मांही।
कहेउ सभै कीछु छाडेयु नाही॥
एक एक अच्छर खोजी बनावा।
मुरुखन दुख पंडितन सुख पावा॥

—पुहुपावती

प्रस्तुत उद्धरण से स्पष्ट है कि पंडितों को सुख देने के हेतु उन्हें ज्ञान से अभिज्ञ कराने के हेतु कवि ने अपने काव्य की रचना की। हृदयस्थ ज्ञान की अभिव्यक्ति के हेतु कवि ने स्वकाव्य की रचना की है। यही कवि का काव्यादर्श है। कवि ने उन्हीं शब्दों (काव्य) को अमर माना है जो उस अमर तत्व का गुणगान करें (इससे विपरीत शब्द और काव्य अस्थायी और संतों के लिए अनुपयोगी होते हैं:—

अमर सो जाकर जग साखा ।
कै कछु अमर शब्द जो भाषा ॥
तेहिते शब्द कहे अब लीन्हा ।
भकुराही जाय जगत मह चीन्हा ॥

—पुहपावती

पलटू साहब साखी, सबदी और काव्य को 'परपंच' मानते है चाहे वह काव्य भक्ति की धारा से परिप्लावित ही क्यों न हो। जब हृदय में शुद्ध भक्ति है तो फिर अन्य वाह्य साधना का क्या महत्व है। पलटू कविता रचना को किसी प्रकार भी साधना में उपयोगी एवं सहायक नहीं मानते हैं:—

एक भक्ति मैं जानौं और झूठ सब बात ।
और झूठ सब बात कौ हठजोग अनारी ।
ब्रह्म दोष वो लेय काया को राखै जारी ॥
प्रान करै आयाम कोई फिर मुद्रा साधे ।
धोती नेती कौ कोई लै स्वासा बाधै ॥

उनमुनि लम्बे ध्यान करै चौरासी आसन ।
कोई साखी सबद कोइ तप कुस कै डासन ॥
पलटू सब परपंच है करै सो फिर पछितात ।
एक भक्ति मैं जानौ और झूठ सब बात ॥

—पलटू साहब की बानी पृ० २६

उक्त उद्धारण से स्पष्ट है कि पलटू कविता को प्रपंच मानते हैं। कविता लेखन में मनुष्य का चित्त और शक्ति ब्रह्माराधना से विलग रहता है। निश्चय ही साधना में बाधक इस प्रकार की कविता संतों में समादरित नहीं हो सकती है। पलटू साहब कागज़ कलम और मसि के माध्यम से लिखित कविता अथवा रचना के समर्थक नहीं हैं। पलटू साहब उसी व्यक्ति को पंडित या कवि मानने को प्रस्तुत हैं जो लेखन के लिए अनिवार्य समस्त पदार्थों के अभाव में भी लिखने में समर्थ हो सके। जब निःअक्षर समस्त अक्षरों में रम रहा है तब फिर हाथ में लेखनी ग्रहण करने से कोई लाभ नहीं है।[1]

रैदास की दृष्टि में कवि, कुलीन और पंडितादि में अहम्मन्यता

---

(१) बिनु कागद बिनु अच्छर बिनु मसि से लिखि देय ॥
बिनु मसि से लिखि देय सोई पण्डित कहवावै ।
बिनु रसना कहै वेद अकथ को कथा सुनावै ॥
निःअच्छर अब मिला अच्छर को क्या ले करना ।
हीरा लागा हाथ पोत की कौन सरहना ॥
पलटू पण्डित सोई है कलम हाथ नहीं लेय ।
बिनु कागद बिनु अच्छरै बिनु मसि से लिखि देय ॥

—पलटू साहब की बानी पृ० ७६

का उदय होने लगता है। अतः ये सभी त्याज्य हैं। ये मति भ्रष्ट और संशय से ग्रस्त रहते हैं। वास्तविक ज्ञान के अभाव में सत्य तत्व से अपरिचित ही रह जाते हैं। रैदास का काव्यादर्श आत्मा के सद्स्वरूप का दर्शन करना है। कवि जब स्वतः विकारों से ग्रस्त है तब वह दूसरों को प्रकाश क्या प्रदर्शित कर सकेगा।[१] कवि के शब्दों में हरि कथा की अभिव्यक्ति के अभाव में यह पांडित्य और ये वानी (कविता) व्यर्थ है:—

थोथा पंडित थोथी बानी।
थोथी हरि बिनु सभै कहानी॥[२]

संत कवि बुल्ला साहब की दृष्टि में न तो कवि का कोई विशिष्ट स्थान है, न बहुत ज्ञान से पूर्ण कविता ही आदर की वस्तु है। ज्ञान के प्रदर्शनमात्र से कोई बड़ा अथवा महत्वपूर्ण कवि नहीं बन जाता है। महत्ता वास्तविक रूप में विश्वास और अनुभव के कारण है। जिसके हृदय में विश्वास का अंकुर नहीं और जिसने ब्रह्म का दर्शन नहीं किया, उसका अनुभव नहीं प्राप्त किया उसके लिए काव्य रचना अथवा न लिखना सभी एक ही सदृश्य है। काव्य तो वाह्य पदार्थ है

---

(१) राम बिन ससय गाठि न छूटै।
काम किरोध लोभ मद माया इन पंचन मिलि लूटै॥
हम बड़ कवि कुलीन हम पण्डित हम जोगी सन्यासी।
ज्ञान गुनी सूर हम दाता याहु कहे मति नासी॥
पढ़े गुने कछु समुझि न परई जौं लौं भाव न दरसै।
लोहा हिरन होइ धौ कैसे जौं पारस नहि परसै॥
—रैदास की वानी पृ० ८

(२) वही वही पृ० २६

अभ्यांतरिक सौंदर्य एवं समृद्धि आदि शक्ति का अनुभव है—

का भयो सब्द के कहे बहुत करि ज्ञान दे ।
मन परतीत नहीं तो कहा जम जान दे ।

बुल्ला साहब की बानी पृ० २५

इसी प्रकार धनी धर्मदास[१], दरिया साहब (मारवाड़ वाले)[२], गुलाल साहब[३], सहजोबाई[४] आदि सन्तों ने वेद, कतेब, और पुस्तक ज्ञान तथा काव्य आदि की निन्दा की है। इन सभी सन्तों ने कहा कि कवि व्यर्थ ही असार कार्यों में संलग्न रहता है। तत्व की बात है ब्रह्म का ध्यान करना, सो वह भूलता जारहा है। तत्व को त्याग कर तत्वरहित पदार्थों में रमना वैसे ही है जैसे हीरा छोड़कर पोत के लिए हाथ बढ़ाना।[५] इसीलिए समय और शक्ति का ह्रास न करके पूर्ण समय उसी ब्रह्म के ध्यान में व्यतीत करना चाहिए।

सुन्दरदास सभी सन्तों में सर्वाधिक शिक्षित और भाषा विज्ञ थे। उन्हें छन्द, पिंगल, अलंकारादि का भला ज्ञान था इसका समर्थन उनके काव्य से प्रकट होता है। सुन्दरदास को छन्द भंग और काव्य के गुण दोषादि का भी ज्ञान था जैसा कि उनके काव्य से ज्ञात होता है। कवि के ही शब्दों में उसका काव्यादर्श निम्नलिखित है:—

---

(१) धर्म दास की शब्दावली पृ० ६,७६
(२) दरिया साहब मारवाड़ वाले की बानी पृ० ७, ६, १२
(३) गुलाल साहब की बानी पृ० ८० और १३०
(४) सहजोबाई की बानी पृ० ६४
(५) पलटू की बानी पृ० ७६

नख शिख शुद्ध कवित्त पढ़त अति नीकौ लग्गै ।
अंग हीन जो पढ़ै सुनत कविजन उठि भग्गै ॥
अक्षर घटि बढ़ि होइ पुडावत नर ज्यौं चल्लै ।
मात घटै बढ़ि कोइ मनो मतवारो हल्लै ॥
औठेर कांण सो तुक अमिल अर्थहीन अद्यों यथा ।
कहि सुन्दर हरिजस जीव है हरिजस बिन मृत कहि यथा ॥[1]

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि कवि काव्य में शुद्ध कवित्त, मोहकता, सरसता, तुकांतता आदि आवश्यक समझता है। कवि की दृष्टि में काव्य में अर्थगांभीर्य भी अपेक्षित है। परन्तु इन सब गुणों के होते हुए 'हरिजस' के अभाव में काव्य निःसार है। जिस प्रकार प्राणविहीन शरीर आकर्षण रहित होजाता है उसी प्रकार 'हरिजस' के बिना काव्य फीका और नीरस प्रतीत होता है।

काव्य (पिंगल) शास्त्र में मगण, नगण, भगण, यगण, सगण, भ्रगण, तगण, जगण, रगण आदि को विशेष महत्व दिया गया है। सुन्दरदास को पिंगल के इस प्रकरण का सम्यक् ज्ञान था। कवि सत्काव्य के लिए इन्हें आवश्यक मानता है। परन्तु इन विविध गणों को कवि ने आध्यात्मिक जगत में किस कौशल से घटित किया है यह विचारणीय है।

माधो जी है मगण यहै है भगण कहिज्जै ।
रगण राम जी होइ सगण सगलै सु लहिजै ॥

---

(१) सुन्दर ग्रन्थावली भाग २।६७२

तगण कहै तारक जरांत सु जगण कहावै ।
भूधर भणिये भगण नगण सुनि निगम बतावै ॥
हरिनाम सहित जे उच्चरहि तिनकौ सुभगण अठ्ठ हैं ।
यह भेद जके जानै नहीं सुन्दर ते नर सठ्ठ हैं ॥

(सुन्दर ग्रन्थावली २ पृ० ६७२)

सुन्दरदास के उपर्युक्त दोनों उद्धरण देख जाने के अनन्तर यह निश्चित हो जाता है कि कवि काव्य शास्त्र की दृष्टि से कविता को शुद्ध एवं सरस बनाने का समर्थक है पर साथ ही काव्य की आत्मा 'हरि यश गान' का भी उस में समावेश अनिवार्य है अतः सुन्दरदास का काव्यादर्श सर्व प्रथम ब्रह्म का यशोगान है, तदनन्तर काव्य सौंदर्य, काव्य सरसता आदि । सन्तों के काव्यादर्श को निश्चित करने के लिए सुन्दरदास के उक्त उद्धरण बड़े महत्वपूर्ण हैं । ये उदाहरण सिद्ध करते हैं कि सन्तों का प्रतिनिधि सर्वाधिक शिक्षित कवि भी काव्य की आत्मा ब्रह्म का गुण गान ही मानता है, चमत्कार और कला का प्रदर्शन नहीं, जैसा कि रीति कालीन कवियों ने किया था ।

सारांश यह है कि सभी सन्तों का काव्यादर्श ब्रह्म का गुण गान, (वाह्याचारों की आलोचना,) सहज भाषा, सरल शैली अलंकारादि विहीन जनता में प्रचलित अति साधारण छन्द हैं । इन कवियों ने काव्य के महत्व को वहीं तक स्वीकार किया है, जहां तक वह ब्रह्म के स्मरण में सहायक हो सके, अन्यथा उसकी कोई उपयोगिता नहीं है । सन्तों ने आध्यात्मिक जीवन को उन्नति एवं विकास के लिए काव्य के महत्व को स्वीकार किया है पर काव्य ही सब कुछ है इस भाव का समर्थन किसी भी कवि ने नहीं किया है । दरिया साहब मारवाड़ वाले के निम्नलिखित शब्दों से सन्तों का काव्यादर्श

सुन्दरतापूर्वक अभिव्यक्त हुआ है :—

सकल कवित का अर्थ है सकल बात की बात ।
दरिया सुमिरन राम का कर लीजै दिन रात ॥
(दरिया साहब की बानी ६)

प्रश्न हो सकता है कि जब सन्तों ने कवि, और कविता की इतनी निंदा की तो फिर स्वयं ही काव्य की रचना क्यों की। जब सन्तों ने स्वतः काव्य को साधना में बाधक कहा तो उस की रचना में क्यों प्रवृत्त हुए। कहा जा सकता है कि सन्तों ने जिस काव्य की रचना की वह आध्यात्मिक जीवन की उन्नति में सर्वथा सहायक है। सम्भवतः इसीलिए काव्य रचना के विरुद्ध होते हुये भी वे इस ओर उन्मुख रहे। इसके अतिरिक्त काव्य गेय होता है, और गेय होने के कारण वह चिरस्मरणीय भी होता है। सन्तों ने सम्भवतः इसीलिए अपने भावों को सहज भाषा का परिधान पहनाकर काव्य का स्वरूप प्रदान किया। सन्तों के काव्य में कला का सर्वथा अभाव है पर उस में भाव सौंदर्य, सन्देश की महत्ता और प्रभावशालीनता का कहीं अभाव नहीं है।

सन्त कवियों का साधक और उपदेशक रूप कवि के रूप से अधिक मधुर है। सहज भावों की स्वाभाविक शैली में अभिव्यक्ति ही उनका काव्यादर्श था। कविता तो उनकी अनुभूति की अभिव्यक्ति का साधन मात्र थी, कवि की सीमा में बांधने का साधन नहीं।[१]

---

(१) प्रस्तुत लेख में शिवनारायण साहब के उद्धरण हिन्दी विभाग के रिसर्च स्कालर रामचन्द्र तिवारी से प्राप्त हुए और जगजीवन-दास सम्बन्धी उद्धरण श्री हरिशरणदास से प्राप्त हुए। लेखक उनका आभारी है।

सन्तों के लोक गीत

साहित्य और समाज अन्योन्याश्रित है। साहित्य समाज का क्रमिक इतिहास वा दर्पण है। समाज के उत्थान एवं पतन का क्रमिक एवं स्पष्ट उल्लेख उसके साहित्य में उपलब्ध हो सकता है। जन जीवन अथवा लोक जीवन के यथार्थ चित्र साहित्य के पृष्ठों में सदैव अभिव्यक्त उपलब्ध हो सकते हैं। इसीलिए कहा गया है कि साहित्य मानव जीवन का प्रतिबिम्ब है। लोक जीवन के रोचक और स्पष्ट चित्र लोक गीतों में प्राप्त होते हैं। लोक गीतों में कवियों की अनुभूति एवं अभिव्यंजना व्यक्तिगत न होकर समाज गत या जनता गत होती है। इन गीतों में जनता या लोक की बाणी के मूक तार झंकृत रहते हैं। तथ्य तो यह है कि लोक गीतों में लोक जीवन के जितने वास्तविक यथार्थ एवं स्वाभाविक चित्र अभिव्यक्त रहते हैं उतने अन्यत्र दुर्लभ हैं। इनकी रचना कवियों ने लोक मनोरंजन एवं श्रम विनोदन के लक्ष्य से की है। लोक गीत माधुर्य के स्रोत हैं। देशी भाषाओं में विरचित होने के कारण हिन्दी भाषी सभी क्षेत्रों में इनका विस्तार पाया जाता है। लोक गीतों में देश कालानुसार विषय का हेर फेर होता रहता है। यह परिवर्तन सामाजिक एवं पारिवारिक जीवन के अनुकूल किया जाता है। इतना होने पर भी इन गीतों का अपना महत्व है। इन गीतों में घटना की जिस वास्तविकता को साहित्य या

साहित्याकार छोड़ देता है वह इसमें विद्यमान रहता है। प्रायः देखा गया है कि लोक गीत सुख, दुःख, ऋतु, उत्सव, मेले, परिश्रम, संस्कार एवं पूजन आदि के समय विशेषतया स्त्रियों के द्वारा गाए जाते हैं।

लोक गीतों के वर्ण्य-विषय अत्यधिक व्यापक और विस्तृत हैं। इनका विस्तार जन्म से लेकर मृत्यु तक सभी संस्कारों, विशेष घटनाओं एवं अवसरों, ऋतु परिवर्तनों, समस्त रसों और समस्त जातियों में प्राप्त होता है। इस दृष्टिकोण से लोक गीतों का वर्ण्य-विषय निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

(क) *संस्कारों की दृष्टि से वर्गीकरण*—पुत्र जन्म के गीत, मुन्डन के गीत, जनेऊ, विवाह, द्विरागमन, नामकरण, कन्या दान, कन्या विदा के गीत, श्मसान यात्रा के गीत।

(ख) *ऋतु सम्बन्धी गीत*—कजली, फाग, होली, चैती, बारह मासा।

(ग) *व्रत सम्बन्धी गीत*—शीतला माता के गीत, नाग पंचमी के गीत, बहुरा, गोधन, षष्ठी व्रत के गीत, पीडिया के गीत, तीज के गीत।

(घ) *जाति सम्बन्धी गीत*—अहीरों के गीत, चमारों के गीत, कहारों के गीत, तेलियों के गीत, गड़रियों के गीत, जुलाहों तथा धोबियों के गीत, कुर्मियों के गीत, खुनखुनियों के गीत, गोंडों के गीत, दुःसाधों के गीत।

(ङ) *विविध गीत*—जातसार, नामकरण, जांत पीसने,

रोपनी, सोहनी के गीत, झूमर, अलचारी, पूरबी, खल के गीत।

इन विविध विषयों के अतिरिक्त सामाजिक जीवन से सम्बन्धित, पारिवारिक जीवन विषयक चित्र बड़े व्यापक रूप में लोक गीतों में अभिव्यक्त हुए हैं। लोक गीतों के सम्यक् अध्ययन से देश के राजनीतिक तथा आर्थिक जीवन का भी भला परिचय प्राप्त होता है। लोक गीतों में जनता की धार्मिक भावनाओं एवं सामान्य विश्वासों की अभिव्यक्ति भी पाई जाती है। परन्तु लोक गीतों में धर्म एवं ज्ञान की इन बातों का बाहुल्य नहीं पाया जाता है। धार्मिक एवं ज्ञान विषयक लोक गीतों के वर्ण्य-विषय को पुनः हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं। इनमें प्रथम है सगुणोपासना सम्बन्धी गीत और द्वितीय है निर्गुणोंपासना सम्बन्धी गीत, सगुणोपासना सम्बन्धी गीतों में शिव, पार्वती, सूर्य, शीतला, गंगा, कृष्ण, तुलसी, दुर्गादेवी, राम तथा विष्णु आदि देवताओं की महिमा और सर्वशक्ति सम्पन्नता का गान होता है। निर्गुन लोक गीतों में गोरखनाथ, मत्स्येन्द्र नाथ, कबीर, रैदास तथा भरथरी [भर्तृहरि] के गीत बहुत अधिक लोकप्रिय तथा व्यापक हैं। इनके गीत गांवों, मेलों और संगतों में गाये जाते हुए प्रतिश्रुत होते हैं। इन कवियों के अतिरिक्त सुन्दरदास, मलूकदास, चरनदास, दरिया साहब, सहजो, दयाबाई आदि सन्तों के लोकगीत भी विभिन्न क्षेत्रों में बड़े जन प्रिय हैं। सुन्दरदास के गीत राजस्थान, मलूकदास के गीत प्रयाग ज़िला, चरनदास के अलवर प्रान्त, दरिया साहब के बिहार प्रान्त, में अधिक सुन पड़ते हैं। विभिन्न सन्तों की गद्दियों अथवा समाधि स्थलों पर सन्तों की संगतों में प्रायः सभी संत कवियों

के गीत गाए जाते हैं। सामान्य जनता की निम्न जातियों—कोरी, चमार, खुनखुनिया, धोबी तथा अहीरों—में कबीर, भरथरी और रैदास के भजन एवं गीत बहुत अधिक समादरित होते हैं। इन कवियों के गीतों में श्रद्धा, भक्ति और सद्भावना का प्रसार करने की अद्भुत शक्ति है।

सन्तों के लोक गीतों के वर्ण्य विषय दो प्रकार का हैं। प्रथम है आध्यात्मिक और द्वितीय है सामाजिक। इन दोनों के भी दो दो भेद निम्नलिखित दृष्टि से किए जा सकते हैं:—

(क) *आध्यात्मिक*—(१) क्रियात्मक—इसका विषय निराकार ब्रह्म, नाम स्मरण, भक्ति, विरह, पतिव्रता, प्रेम, विश्वास, सत्संग, उपदेश, उदारता, शील क्षमा, तप, सन्तोष, धीरज, दीनता, विवेक, गुरुदेव तथा दया है।

(२) ध्वंसात्मक—इसका विषय चेतावनी, भेष, क्रोध, काम, मोह, माया, मान, कपट, कनक, कामिनी, नशा, आहार, तीर्थ व्रत, दुर्जन तथा कुसंग है।

(ख) *सामाजिक*—(१) क्रियात्मकः चेतावनी एवं समदृष्टि।

(२) ध्वंसात्मकः चेतावनी एवं भेदभाव।

सन्तों के लोक गीतों के विषय सामान्यतया ६ हैं, वे इस प्रकार हैं:—

(१) रहस्यभावना।
(२) क्षणभंगुरता।
(३) साम्य भावना
(४) समाजगत विषमताएं।
(५) माया कनक एवं कामिनी।
(६) पांडे, पंडित एवं मुल्ला की तीव्रालोचना।

सर्व प्रथम रहस्य भावना से युक्त सन्तों के लोक गीतों का अध्ययन कीजिए। इन लोक गीतों में कहीं कहीं रहस्य भावना की बड़ी सुन्दर झलक मिलती है। भक्ति भावना के आवेग में आत्म विस्मृति की स्थिति में हृदय जिन भावों को अभिव्यक्ति करता है वे काव्य कला एवं दार्शनिकता दोनों ही दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण होते हैं। सन्तों ने रहस्य भावना की अभिव्यक्ति प्रतीकों के आधार पर की है जो अधिकतर सांसारिक होते हुए भी पारलौकिक तत्वों की ओर संकेत करते हैं। भोजपुरी भाषा का निम्नलिखित रहस्यवादी लोक गीत पठनीय होगा:—

सूतल रहलों ओसरवा हो, गुरु जी दिहले जगाई।
गवना के दिन नियरा गहले हो, मन गइल घबराई।
गुरु जी हो गुरु जी पुकारिलें हो, गुरु जी सरन तोहार।
रचि एक दीहितो गुरु हुकुमवा हो, घउरल करिअहतो दान।
कोठिल भरल बाटे चउरा हो, गुरु जी क इअइतो दान।
रचि एक दीहिती हुकुमवा हो, गुरु जी कइअइतो दान॥

उपर्युक्त पंक्तियों में एक ऐसी नारी का चित्रण हुआ है जो अपने ओसरे में बेसुध सो रही थी। किंचित समय के अनन्तर गुरु जी ने निकट आकर उसके गवने की समय की सूचना दी। किन्तु वह नारी संसार के रमणीय पदार्थों में इतनी अधिक रम गई है कि उसे अभीष्ट गंतव्य स्थल भी विसर गई है। वह यह भूल गई है कि जन्म केवल आगे बढ़ने के लिए एक सोपान मात्र है। यहां स्थायी रूप से ठहर कर आनन्द मनाने के लिए कोई अवसर तथा अवकाश नहीं

है। इस प्रकार की प्रगाढ़ निद्रा से जगाने के लिए गुरु के अतिरिक्त और कौन सामर्थ्यवान व्यक्ति है। गुरु की शरण में ही निस्तार और सद्गति है। इस रूपक में नारी आत्मा की प्रतीक है और गवने की बेला मृत्यु के आगमन की सूचना है। रमणीय पदार्थ संसार की अविद्या माया है जिनमें जीव संलग्न रहता है।

अब एक दूसरा गीत देखिए। इस लोक गीत में एक गुरु कश्चित सांसारिक से पूछ रहा है कि यहां से अपना तम्बू गिराकर तुम्हें कहां जाना है। तुम अपना गन्तव्य स्थान तो बताओ। तुमने यहां रह कर बबूल का वृक्ष क्यों लगाया। तुम्हें तो आम का वृक्ष लगाना था। तुम्हें स्वजीवन हरि भजन में यापन करना चाहिए था। इस लोक में भगवत भक्ति के बिना अमरत्व दुर्लभ है। प्रेम ही मानव जीवन का सार है। इस गीत में तम्बू गिराने से सांसारिक जीवन की जो उपमा दी गई है वह बड़ी मार्मिक और उपयुक्त है। इस जीवन को समाप्त कर मानव कहां जायगा उसे ज्ञात नहीं है। कारण कि मानव कर्मानुसार ही गतियों को प्राप्त है। अब कवि के शब्दों में इस गीत को पढ़िये :

तमुवां गिराइ कहा जइब हो कंह आपन ठेकाना।
काहे के लगवल बबुरिया हो लगवत तू आम।
अमिरित करत भोजनियां हो भजत हरिनाम।
प्रेम बाग नहि बौरे हो प्रेम न हाट बिकाय।
बिना प्रेम के मनुजवो हो, जस अंधियारिया राति।
प्रेम नगर की हटिया हो हीरा रतन बिकाय।
चतुर चतुर सौदा करि गये हो, मूरख ठाढ़ पछिताय॥

रहस्य भावना की सुन्दर और सफल अभिव्यक्ति की दृष्टि से एक और गीत पठनीय होगा :

मोरे हैरवा से नातवा छोडवले जाला पियवा,
काचे कायें बसवा के डोलिया बनवले,
ताहि पर काया के सुनवले जाला पियवा ।
चारि कहार मिलि डोलिया उठवले,
आगे आगे रहिया देखवले जाला पियवा ॥

इस गीत में आत्मा रूपी नारी का परमात्मा रूपी प्रियतम से मिलने का मार्मिक एवं सुन्दर रूपक व्यक्त हुआ है । आत्मा रूपी नारी संसार रूपी मायके से सम्बन्ध विच्छिन्न करके पति परमेश्वर के पास जाने के लिए उद्यत है । इस प्रकार के सुन्दर रूपक एवं कमनीय कल्पना कबीर के काव्य में अनेक स्थलों पर उपलब्ध होती है ।

एक कवि के द्वारा आत्मा नारी को परमात्मा प्रियतम के वियोग में व्याकुल और तड़पने का भावपूर्ण चित्रण निम्नलिखित पंक्तियों में किया गया है । यहां मूल शब्द के सुनते ही आत्मा रूपी नारी के जागने, संसार रूपी मायके को भूलकर ससुराल परलोक के स्मरण होने का वर्णन किया है । परब्रह्म प्रियतम के वियोग में आत्मा विलाप और रुदन करती है:

मूल सब्द सुधि सुनइत जागरी आतम नारी ।
नैहर नेह विसारि गैला गुरु सुरती ससुरारी ॥
पूरन प्रेम प्रगट भइ डर उपजेला अनुराग ।
भूखन भवन न भावै नैनन्ह नींद न लाग ॥

संग सलेहरि सकुचाति संगति सवति सोहाय ।
विरहिन विरह वीआकुल निसि बासर अकुलाय ॥
विलपति, कलपति, रोअति, झंखति, भूखति सोइ ।
औषध दरस दरस विनु व्याधि विनासइ होइ ॥

इसी प्रकार की रहस्यात्मक अनुभूति निम्नलिखित पंक्तियों में कबीर के द्वारा सम्पन्न हुई है :

नैहर से जियरा फाट रे ।
नैहर नगरी जिसके बिगड़ी उसका क्या घर बाट रे ।
तनिक जियरवा मोर न लागै तन मन बहुत उचाट रे ।
या नगरी मैं लख दरवाजा, बीच समुन्दर घाट रे ।
कैसे कै पार उचरिहैं सजनी, अगम पंथ का पाट रे ।
अनवतीह का बना तंबूरा, तार लगै मन मात रे ।
खूंटी टूटी तार विलगाना कोउ न पूछत बात रे ।
हंस हस पूछै मातु पितासो, मोरे सासुर जाव रे ।
जो चाहै सो वो ही करिहैं, पत वाही के हाथ रे ।
न्हाय धोय दुलिहन होय बैठी, जोहै पिय की बाट रे ।
तनिक घुंघटवा दिखाव सखीरी आज सुहाग की रात रे ।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, पिया मिलन की आस रे ॥

देहातों की संगतों में गाये जाने वाले गीतों में क्षण भंगुरता का तत्व बहुत प्रमुख रहता है। ये गीत सामान्यतया कबीर और रैदास द्वारा विरचित होते हैं। इनमें जीवन,

संसार, माया तथा उसके सहायक तत्वों को निःसार सिद्ध करके उनमें क्षण भंगुरता के तत्वों का प्रकाशन किया जाता है। गायक मण्डली की स्वरलहरी श्रोताओं को आनन्द विभोर करती हुई जनता की स्मृति में इन कवियों के मतों को पुनर्जागरित किया करती है। इनमें पाठकों या श्रोताओं का ध्यान सांसारिक माया मोहादि से हटाकर उनके समक्ष संसार का वास्तविक चित्र अंकित करने का प्रयत्न किया जाता है। कबीर का प्रस्तुत लोक गीत इस दृष्टिकोण से बड़ा लोक प्रचलित है।

मन फूला फूला फिरै, जगत में कैसा नाता रे।
माता कहै यह पुत्र हमारा बहिन कहै बिर मेरा।
भाई कहै यह भुजा हमारी, नारि कहै नर मेरा।
पेट पकरि कै माता रोवै बांह पकरि कै भाई।
लपटि झपटि कै तिरिया रोवै हंस अकेला जाई॥

इसी प्रकार क्षण भंगुरता की भावना अभिव्यक्त करने वाले लोक गीतों में संत चरणदास का प्रस्तुत लोक गीत बहुत प्रचलित है :

यह तन बालू का सा डेरा।
जैसे दामिनी दमक चमक को क्षण नहिं रहत उजेरा॥
मैंडी मैंडप मुल्क खजानो अरु परिवार घनेरा।
सो सब कौतुक सो दीखत है राम संभार सबेरा।
गज घोड़ा अरु चाकर चेरा आखिर कोइ न तेरा।
जिनके कारण मर्मत डोल करता मेरा मेरा॥

थोड़े से जीवन के काजे बहुतक करत बखेरा ।
काल बली की खबरि नहीं है करहिं अचानक घेरा ।।
कहैं शुकदेव समझ नर मोइं छाड़ि विषय उरझेरा
चरणदास हारनाम भजन बिन कैसे होय निबेरा ॥

देहातों में गोपीचन्द एवं भर्तृहरि के अनेक ऐसे लोक गीत प्रचलित हैं जो अद्योपान्त संसार की निःसारता एवं विनाश शीलता के द्योतक हैं। सत्य तो यह है कि संत कवियों ने पद पद पर जीवन के इस पक्ष पर अपने विचार प्रकट किए हैं। ऐसे लोक गीतों में सांसारिक माया मोहादिक की कटु आलोचना की गई है और उसके सम्पर्क से दूर रहने का उपदेश दिया गया है।

भारतीय समाज की रचना वर्ण व्यवस्था के आधार पर हुई है। जिस वर्ण व्यवस्था की स्थापना किसी युग में समाज की सुविधा और सरलता के लिए हुई थी वही आज हमारे लिए अभिशाप बन गई है। आज हमारा समाज उच्चनीच, कुलीन अंत्यज, स्पर्श्य अस्पर्श्य भावना से अभिशाप हो गया है। समस्त क्रियाओं और सत्कर्मों से विहीन ब्राह्मण इसलिए ब्राह्मण है कि समाज द्वारा निश्चित ब्राह्मण कुल में वह जन्मा और पाला पोसा गया है। हमारा समाज काल्पनिक प्रशंसनीय जीवन का उतरोतर समर्थक बनता जा रहा है। इसी भावना के विरोध में सन्तों ने बारम्बार समता का उपदेश दिया है। उनकी दृष्टि में ये समाजगत विषमतायें महत्व हीन थीं। सामाजिक विषमताओं की आलोचना और दोषों का निदर्शन करते हुए सन्तों ने अनेक पदों की रचना की है, जो उत्तरी भारत की जनता के कंठों से लोक गीतों के रूप में फूट पड़ते

हैं। इस प्रकार के लोक गीतों का विषय दो विभागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम वे हैं जिन में उच्च वर्णों की तुलना में निम्न वर्ग को अधिक धर्म एवं कर्तव्य परायण सिद्ध किया गया है। इन्हीं में हरिजन 'निम्नवर्ग' के महत्व का महत्वपूर्ण शब्दों में उल्लेख किया गया है। द्वितीय कोटि के वे हैं जिनमें सीधे सादे शब्दों में जाति वर्णादि की आलोचना करते हुए निम्नवर्ण को अन्य वर्णों के समान ही पवित्र और सद्भावना युक्त बताया गया है। इस दृष्टिकोण से कबीर, रैदास एवं चरणदास के पद बहुत जन प्रिय है। चरणदास का निम्नलिखित पद पठनीय होगा :—

चारि वरण सों हरिजन ऊंचे।
भये पवित्तर हरि के सुमिरे तन के उज्ज्वल मन के सूचे॥
जोन पतीजै साखि बताऊं शबरी के जूंठे फल खाये।
बहुत ऋषीश्वर ह्वांई रहते तिनके घर रघुपति नहि आये॥
भीलिनी पांव दियो सरिता के शुद्ध भयो जल सब कोई जाने।
मन्द मतो सो निर्मल हुवो अभिमानी नर भये खिलाने॥
ब्राह्मण क्षत्री भूपहु तै बहु बाजे शंख श्वपच जब आयो।
बाल्मीकि यज्ञ पूरण कीन्हो जयजय कार भयो यश गायो॥
जाति वरण कुल सोई नीको जाके होय भक्ति परकास।
गुरु शुकदेव कहत हैं तोको करिजन सेव चरणहिदास॥

कबीर का एक लोक गीत इस प्रकार है :—

साधो एक रूप सब मांही।
अपने मनहिं विचारि कै देखो और दूसरो नांही॥

एकै त्वचा रुधिर पुनि एकै विप्र सूद्र के मांही ।
कहीं नारि कहि नर होइ बोलै गैब पुरुष वह नांही ॥
सब्द पुकारि सत्त मैं भाखौं अन्तर राखौं नाहीं ।
कहै कबीर ज्ञान जेहि निरमल विरले तांहि लखाहीं ॥

सन्तों ने माया की निन्दा खुल कर बड़े ही स्पष्ट शब्दों में की है। अविद्या माया के दो विशेष सहायक हैं कनक और कामिनी है। इन्हीं के जाल में समस्त संसार बंधा पड़ा है। इन्हीं के द्वारा अर्जित काल्पनिक सुखों में मानव आत्म तुष्टि खोजता फिरता है। सन्तों ने इन दोनों के कुप्रभाव और व्यापक विषमताओं का चित्रण भांति भांति से किया है। इसी प्रकार पाखंडों एवं वाह्याचारों के संलग्न पांडे पंडित, मुल्ला और मौलवी के कृत्यों का रहस्योद्घाटन भी सन्तों ने जी खोल कर किया है। शास्त्रीय ज्ञान की अपेक्षा अनुभव ज्ञान को सन्तों ने अधिक महत्व प्रदान किया है। उनका सन्तों के सत्संग में विश्वास था और वे सन्तों की अनुभव गम्य विचार धारा में अवगाहन करना अधिक उचित और विश्वसनीय समझते थे। जो कोई भी धर्म उनके समक्ष आता था उसे वे अपने अनुभव एवं सत्य की तुला पर तौलते थे और उनके अनुषत् सत्य को ग्रहण कर अपनी विचार धारा के अनुसार उसको प्रतिपादन करते। वाह्य उपकरणों का परित्याग करके इन्होंने बारम्बार प्रेम की भावना अंगीकार करने के लिए कहा। कारण कि प्रेम में आडम्बर नहीं होता है अतः कबीर आदि ने अपनी भक्ति को एक मात्र मानसिक रूप ही प्रदान किया है। उनकी भक्ति में कर्म कांड नहीं है केवल मानसिक पक्ष है। संतों की यह प्रेम भावना इतनी व्यापक है कि उसमें ब्रह्म अनेक नामों से

सम्बोधित हुआ है। इसीलिए वाह्याचारों में संलग्न धर्म के वास्तविक स्वरूप को भूले हुए दोनों धर्मों (हिन्दू एवं मुसलमान) के ठेकेदारों की इन्होंने कटु आलोचना की है। संतों के ये पद जनता में विशेष प्रिय हैं और गाये जाते हैं। शायद ही कोई ऐसी संगत हो जहां ये पद न गाये जांय।

इन सब के अतिरिक्त सन्तों के कुछ और भी जनप्रिय लोकगीत हैं जिनके विषय उपर्युक्त वर्ण्य विषय विभाजन में नहीं आते हैं। इन विविध विषयों में विनय भावना से ओतप्रोत आत्म निवेदन के पद तथा अन्य लोक गीत विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं :—

१. *नैहरवा हमका नहि भावै।*
साईं की नगरी परम अति सुन्दर जहं कोइ जाय न आवै॥
चांद सुरज जह पवन न पानी को संदेस पहुचावै।
दरद यह साईं को सुनावै॥
आगे चलौं पथ नहि सूझै पीछे दोष लगावै।
केहि विधि ससुरे जाव मोरी सजनी विरहा जोर जनावै॥
विषैरस नाच नचावै॥

२. *सांई से लगन कठिन है भाई।*
जैसे पपीहा प्यासा बूंद का पिया पिया रट लाई।
प्यासे प्राण तड़फै दिन राती, और नीर न भाई।
जैसे मिरगा शब्द सनेही, शब्द सुनन को जाई।
शब्द सुनै और प्रान दान दे तनिको नाहि डराई।
जैसे सती चढ़ी सत ऊपर, पिया की राह मन माई।
पावक देखि डरे वह नाही, हंसत बैठे सदा माई।

छोड़ो तन अपने की आसा, निर्भय है गुन गाई ।
कहत कबीर सुनो भाई साधो नांहि तो जनम नसाई ।

३. मन तू पार उतर कहं जैहो ।
आगे पंथी पथ न कोई, कूच मुकाम न चैहौ ।
नहि तह नीर, नाव नहि खेवट, ना गुन खैदन हारा ।
धरनी गगन कल्प कछु नाहीं ना कछु वार न पारा ।
नहि तन नहि मन नहि अपनयौ सुन्न में सुद्धन पैहौ ॥
वलीवान होय पैठो घट में वाही ठौरै होइ हौ ।
वारहि वार विचार देख मन अंत कहूँ मत जैहौ ।
कहै कबीर सब छाड़ि कलपना ज्यों के त्यों ठहरै हौ ।

४. रहना नहि देस बिराना है ।
यह संसार कागद की पुड़िया, बूंद पड़े घुल जाना है ।
यह संसार कांट की बाड़ी, उलझ उलझ मरि जाना है ।
यह संसार झाड़ और झांखर आग लगे बरि जाना है ।
कहत कबीर सुनो भाई साधौ, सतगुरु नाम ठिकाना है ।

५. झीनी झीनी बीनी चदरिया ।
काहे क ताना काहे कै भरनी कौन तार से बीनी चदरिया ।
इंगला पिंगला ताना भरनी सुषमन तार से बीनी चदरिया ॥
आठ कमलदल चरखा डोलै पांच तत्त गुन तीनि चदरिया ।
साई को सियत मास दस लागे ठोक ठोक कै बीनी चदरिया ॥
सो चादर सुर नर मुनि ओढ़ी ओढ़ि कै मैली कीनी चदरिया ।
दास कबीर जतन से ओढ़ी ज्यों की त्यों धरि दीनी चदरिया ॥

दुःखवाद और सन्त कवि

एको रसः करुण एव निमित्त भेदा—
द्भिन्नः प्रथक् प्रथगिवाश्रयते विवर्तान ।
आवर्त्तबुद्बुद तरंगमयान् विकारा—
नम्भो यथा सलिलमेव तु तत्समग्रम् ॥ —भवभूति

एक करुण ही मुख्य रस, निमित भेद सों सोई ।
पृथक पृथक परिणाम में, भासत बहु विधि होई ॥
बुद् बुद् भँवर तरंग जिमि, होत प्रतीत अनेक ।
पै यथार्थ में सबनि को, होत रूप जल एक ॥
—सत्यनारायण कविरत्न

"दुःख-सुख की निशा दिवा में,
सोता जगता जग जीवन ।" —पंत

मानव जीवन विविध प्रकार के अनुभवों का केन्द्र स्थल है। उसके जीवन का सौन्दर्य अतीव वैचित्र्यपूर्ण है। उसके हृदय में नित्य प्रति ही भावों के इन्द्र-धनुष बना और मिटा करते हैं। उसके मानस में भावों एवं मनोवेगों के ज्वार-भाटा का उत्थान-पतन होता ही रहता है। हर्ष-विषाद, आशा-निराशा सुख-दुःख, वैभव-दारिद्रय आदि के जीवित इतिहास का ही

नाम 'जीवन' है—मानव जीवन है। जीवन आनन्द और विषाद की ही अनुभूति है। कवि इस विशाल संसार के रंगमंच का अमर गायक है। काव्य हमारे हृदय की श्वास है। मनुष्य का आन्तरिक जीवन अहर्निश उसी में प्रवाहित रहता है। यह संसार ब्रह्म वा प्रकृति की अभिव्यक्ति है और काव्य मानवीय अनुभूतियों की व्यक्ति। उस अव्यक्त की अभिव्यक्ति है यह सम्पूर्ण जगत और इस जगत की, उसके मानस की विदूर-भूमि में वेदना-बहुल भावों के आघात-प्रत्याघात की, अभिव्यक्ति है काव्य। अनादि काल में जब इस विश्ववीणा का निर्माण होने लगा तभी इसके एक तूंबे में हृदय का विकल क्रन्दन और दूसरे में आनन्द का मधुर स्वर भर दिया गया था। सुख एवं दुःख का जन्म तभी हो गया था। उस अनादि विश्ववीणा से जो प्रथम स्वर निकला वह सम्भवतः वेदना का ही विकल स्वर था। वेदना मानव जीवन की मूल रागिनी है।

मानव एक सजीव कविता है। सुश्री महादेवी वर्मा के शब्दों में "वह (मानव) एक संसार में रहता है और उसने अपने भीतर एक और, इस संसार से अधिक सुन्दर, सुकुमार, संसार बसा रक्खा है। मनुष्य में जड़ और चेतन दोनों एक प्रगाढ़ आलिंगन में आवद्ध रहते हैं; उसका वाह्याकार पार्थिव और सीमित संसार का भाग है और अन्तस्तल अपार्थिव असीम का। एक उसको विश्व में बांध रखता है तो दूसरा उसे कल्पना द्वारा उड़ाता ही रहना चाहता है। जड़ चेतन के बिना विकास शून्य है और चेतन जड़ के बिना आकार-शून्य है। इन दोनों की क्रिया और प्रतिक्रिया ही जीवन है। ('रश्मि'—"अपनी बात")

कोमल एवं सुखद भावनाओं के सुमधुर संस्पर्श से, अनुभूति से जाग्रत हो अथवा चौंक कर अन्तस के अन्तर्गत अव्यक्त 'अहम्' जब अपने परिज्ञापन के हेतु व्याकुल वा व्यग्र हो उठता है तभी तो मानव कवि बन बैठता है। अतएव पीड़ाओं के पर्दे में सन्निहित रहने वाला मानव का 'अहम्' जब स्वपरिज्ञापन के लिए व्याकुल हो उठता है तभी वह कवि बनता है। 'पंत' के मत से सहमत होकर हम कह सकते हैं कि

"वियोगी होगा पहिला कवि,
आह से उपजा होगा गान;
उमड़ कर आखों से चुपचाप,
बही होगी कविता अनजान।"

दुःख एवं करुणा की अनुभूति मानव मात्र की धमनियों में प्रवाहित होती है। उपयुक्त अवसर पर वह अपने को अभिव्यक्त भी कर देती है। पंत के शब्दों में "विश्व का काव्य अश्रुकन"। सत्य तो यह है कि मानव जीवन की सब से विशद, गंभीर और व्यापक अनुभूति है 'दुःख'। अतः इस अनुभूति या भाव की व्यंजना हमें निरन्तर मिलती है। कभी कभी यह भावना इतने व्यापक रूप से व्यक्त हुई है कि हमें विश्व के कण-कण में दुःख एवं करुणा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं उपलब्ध होता है। विश्वका तीन चौथाई से अधिक साहित्य दुःखानुभूति की व्यंजना मात्र है। इस दुःखानुभूति के कारण बहुत हैं। कभी यह पार्थिव तत्वों पर अवलम्बित है और कभी अपार्थिव। कभी उसका आधार अतृप्ति है, कभी अभाव, कभी विरह और कभी अप्राप्ति। परन्तु यह दुःख ही उसकी अनुभूति, उसकी व्यंजना और उसके भावनाओं का केन्द्र विन्दु चिरकाल से

रहा है और रहेगा भी।

प्रकृति का क्रम और गति बड़ी रहस्यमयी है। यथा क्रमशः शुक्ल और कृष्ण पक्ष का क्रम प्रकृति की रहस्यमयी देन है ठीक उसी प्रकार दुःख एवं सुख का क्रम है। तथ्य तो यह है कि प्रकृति के चक्र में दुःख एवं सुख, अन्धकार एवं प्रकाश ये दो परस्पर 'विरोधी' गुण स्थित हैं। सामान्यतया जिस कवि में अनुभूति की मात्रा जितनी ही घनीभूत होती है वह उतना ही दुःख तथा अहंकार की ओर उन्मुख होता है। कालिदास और रवीन्द्रनाथ इस कथन के समर्थक हैं। दिन की उज्ज्वलता, और सूर्य के प्रखर प्रकाश की अपेक्षा उनका चित्त रात्रि के गहन अन्धकार में अधिक प्रसन्न प्रतीत होता है। यहां रवीन्द्रनाथ की प्रस्तुत पंक्तियां पठनीय होंगी।

यथा दिवा अवसाने निशीथ निलये,
विश्व देखा देय तार ग्रह-तारा लये।
हास्य-परिहास-मुक्त हृदये आमार,
देखितो से अन्तहीन जगत विस्तार॥

दुःख और सुख दोनों ही समान रूप से प्रकृति की देन हैं। दुःख जीवन का एक ऐसा काव्य है जो समस्त मानवता को एक सूत्र में बांध देने की क्षमता रखता है। 'अश्रु' ही जीवन की सारपूर्ण 'फिलासफी' है। वेदना और जीवन दोनों ही पर्याय से लगते हैं। पाश्चात्य कवि शैली के अनुसार,

"Misery we have known each other,
Like a sister and a brother"—

—('Misery'—Shelley)

संसार में अपने को सुखी मानना, समझना आत्म-प्रवंचना नहीं तो और क्या है।

समस्त ६ शास्त्रों का श्रीगणेश दुःखवाद से ही हुआ है। गीता का प्रारम्भ भी 'दुःखवाद' से ही होता है। इन ग्रन्थों में जो भावना व्यक्त हुई है उसका अभिप्राय यह है कि संसार दुःख से ही ओतप्रोत है और जो यत्किंच सुख दृष्टिगत होता है उसका भी अन्तस दुःख से अनुरंजित है। अतएव हमारा लक्ष्य है दुःख की निवृत्ति करना। गीता दुःखवाद अन्य शास्त्रों से भिन्न है। मीमांसा आदि शास्त्रों में संसार दुःख का आगार माना गया है और यहां मानव को सुख कभी नहीं मिल सकता है। अतः दुःख रूप संसार से शरीरतः सम्बन्ध विच्छिन्न करके अथवा उदासीन होकर ब्रह्मलोक की प्राप्ति करनी चाहिए। मनुष्य को प्रकृति से सम्बन्ध त्यागकर ब्रह्मत्व प्राप्त करना आवश्यक है। वेदांत एवं गीता का अभिमत है कि मानव बिना देह का परित्याग किये केवल अन्तर्दृष्टि को ठीक रखने तथा अवस्साधना करने पर भी निर्वाण पद प्राप्त कर सकता है। गीता में कहा गया है कि जिनका वह अज्ञान परमात्मा के तत्वज्ञान द्वारा नष्ट कर दिया गया है, उनका वह ज्ञान सूर्य के सदृश्य उस सच्चिदानन्द घन परमात्मा को प्रकाशित कर देता है[1]। जिनका मन तद्रूप हो रहा है, जिनकी बुद्धि तद्रूप हो रही है, और ब्रह्म में जिनकी एकीभाव से स्थिति है, ऐसे तत्परायण पुरुष ज्ञान के द्वारा पाप रहित होकर अपुनावृत्ति को प्राप्त करते हैं[2]। वे ज्ञानीजन समदर्शी होते हैं[3] जो हर्ष और विषाद से रहित है तथा स्थिर बुद्धि

(१) श्रीमद्० गी० अ० ५ श्लोक १६ (२) श्रीमद्० गी० अ० ५ श्लोक १७
(३) ,, ,, ,, ,, १८

संशय रहित है वही एकीभाव से नित्य स्थित है[१]। वाह्य विषयों में आसक्ति रहित अन्तःकरण वाला साधक आत्मा में स्थित जो ध्यान जनित सात्विक आनन्द है, उसको प्राप्त होता है। तदनन्तर वह ब्रह्म के ध्यान रूप में अभिन्न रूप से स्थित पुरुष अक्षय आनन्द का अनुभव करता है[२]। इन्द्रियों का सुख ही दुःख है। अतः बुद्धिमान उनमें नहीं रमता है[३]। जो शरीर के नाश से पूर्व ही विकार-जनित वेग को सहन कर लेता है वही सुखी है, योगी है[४]। जो मानव अन्तरात्मा में ही सुख वाला है तथा जो आत्मा में ही ज्ञान प्राप्त कर चुका है वह ब्रह्म के साथ एकीभाव प्राप्त करता है[५]। बाहर के विषय भोगों को न चिन्तन करता हुआ बाहर ही निकालकर और नेत्रों की दृष्टि को भृकुटी के बीच में स्थित करके तथा नासिका में विचरने वाला प्राण और अपानवायु को सम करके, जिसकी इन्द्रियां मन व बुद्धि जीती हुई हैं—ऐसा जो मोक्ष परायण मुनि इच्छा, भय और क्रोध से रहित हो गया है, वह सदा मुक्त ही है[६]। जीवनकाल में ही नित्य पुरुष के भीतरी लक्षण स्थित धी के नाम से गीता में सविस्तार वर्णित हुए हैं। यह प्रसंग भी विषय के स्पष्टीकरण के लिए पठनीय होगा[७]। इस विषय में निम्नलिखित श्लोकों को उद्धृत करना असंगत न होगाः—

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥

---

(१) श्रीमद्० गी० अ० ५ श्लोक २० (२) श्रीमद्० गी० अ० ५ श्लोक २१
(३) ,, ,, ,, ,, २२ (४) ,, ,, ,, ,, ,, २३
(५) ,, ,, ,, ,, २४ (६) ,, ,, ,, ,, ,, २७-२८
(७) ,, ,, द्वितीय ,, ५५–५७ तथा ६४–७२

नास्ति बुद्धिर युक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावतर्यः शांतिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥
—(गीता अध्याय २, श्लोक ६५-६६)

प्रस्तुत विवेचन से गीता का दुःख विषयक मत स्पष्ट हो जाता है । साथ ही यह भी स्पष्ट हो जाता हैं कि गीता का दुःखवाद वेदांत के दुःखबाद से साम्य किन्तु अन्य शास्त्रों के मत से भेद रखता है ।

अब उपनिषदों का दुःख विषयक मत विचारणीय है । उपनिषदों का मत है कि जगत ब्रह्मरूप, आनन्द रूप तथा सुख रूप है, भले ही संसारी को माया के दुष्प्रभाव से यह संसार दुःख रूप प्रतीत होता है । इसके समर्थन में छान्दग्योपनिषद, तैत्तरीयोपनिषद एवं कठोपनिषद, के मत पठनीय होंगे । छान्दग्योपनिषद में कहा गया है यह जगत ही वास्तव में ब्रह्म है । कारण कि उसी परब्रह्म से इसकी उत्पत्ति हुई है, यह उसी में लीन भी होता है और उसी में इसका परिपालन, पोषण एवं सम्वर्द्धन होता है:—

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति ॥' —(३-११-१)

इस विषय में प्रस्तुत उपनिषद का एक और कथन पठनीय है । निम्नलिखित कथन में कहा गया है कि जो यह भूमा है वही सुख है । वही भूमा ही नीचे, ऊपर, पीछे, समक्ष, दाहिने और बायें सर्वत्र विद्यमान है । वही तो यह सब कुछ है:—

'यो वै भूमा तत्सुखम् ।'—(७-२३-१)

तथा:—

स एवाधस्तात् स उपरिष्टात् स पश्चात् स पुरस्तात् स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदं सर्वमिति । —(७-२५-१)

तैत्तरीय उपनिषद का अभिमत है कि,

आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयत्यभि संविशन्तीति।

—(तै० उप० भृगु० ६)

अर्थात् संसार के समस्त तत्व आनन्द से ही समुत्पन्न होते हैं और आनन्द में ही जीवन प्राप्त करते हैं। अन्त में मृत्यु प्राप्त करते हुए भी वे आनन्द में ही प्रवेश करते हैं।

कठोपनिषद में कहा गया है कि जो व्यक्ति इस संसार में सर्वदा ब्रह्मदृष्टि अथवा आत्मदृष्टि रखता है वही नित्य आनन्द का अधिकारी है। वह विषय वासना आदि से ऊपर उठ कर ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है। हृदयस्थ समस्त कामनाओं के विलीन हो जाने के अनन्तर वह मर्त्य अमृत बन जाता है। वह ब्रह्म जो समस्त भूतों की अन्तरात्मा में परिव्याप्त है, उसे जो व्यक्ति अपने में स्थित अथवा अनुभव करता है वही नित्य सुखी होता है। वह नित्यों का नित्य, चेतनों का चैतन जो सभी की कामनाओं का सर्जन करता है, उसे जो भी अपने में स्थित अनुभव करते हैं, उन्हें स्थायी शांति और आनन्द प्राप्त होता है,

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदिश्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥

—(कठ उप० २–३ १४)

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥
नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शांतिः शाश्वती नेतरेषाम्॥

(कठ उप० २. २. १२–१३)

बौद्धमत में 'दुःख' के पीछे एक विशिष्ट दार्शनिक विचार-धारा की रचना हुई है। कालान्तर में 'दुःख' ही भगवान बुद्ध की धार्मिक शिक्षा का आधार बन गया। बुद्धदेव ने कर्तव्य शास्त्र के दृष्टिकोण से चार सत्यों का उपदेश दिया है। सम्भवतः इन्हीं (चार सत्यों) के सम्यक् ज्ञान के कारण उन्हें 'संबोधि' प्राप्त हुई है। इन सत्यों को 'आर्य सत्य' कहा गया है। 'आर्य सत्य' से अभिप्राय है वे सत्य जिन्हें केवल आर्य (अर्हत्) लोग ही सम्यक् रूप से जान सकते हैं। यों तो सत्य अनेक हैं परन्तु इन चार की महत्ता विशेष रूप से प्रचारणीय है। बुद्ध जी द्वारा प्रतिपादित 'आर्य सत्य' निम्नलिखित है:—

(१) दुखम्—इस संसार का जीवन दुःख से परिपूर्ण है।

(२) समुदाय—इस दुःख का कारण विद्यमान है।

(३) निरोध—इस दुःख से वास्तविक मुक्ति मिलती है।

(४) निरोध गामिनी प्रतिपद—दुखों के निरोध के प्रतिपद् है। इसका आलम्बन करने से मानव दुःख का निरोध कर सकता है। भगवान् बुद्ध से बहुत पूर्व व्यास जी ने आध्यात्म शास्त्र को चिकित्सा शास्त्र के समान ही चतुर्व्यूह माना था। व्यास जी के मतानुसार यथा चिकित्साशास्त्र में रोग, रोग का हेतु, आरोग्य तथा भैषज्य है, उसी तरह दर्शन शास्त्र में संसार (दुःख), संसार हेतु (दुःख का कारण), मोक्ष (दुःख का नाश) तथा मोक्षोपाय चार सत्य माने गए हैं। तत्वज्ञानी को वैद्य के समान दुःखरूपी रोग को समूल विनष्ट कर देना चाहिए:—

"यथा चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्यूहं—रोगो, रोगहेतुः, आरोग्यं भैषज्यमिति। एवमिदमपि शास्त्रं चतुर्व्यूहम्—तद् यथा संसारः संसारहेतुः मोक्षो मोक्षोपाय इति। —व्यासभाष्य २-१५

तथागत के मतानुसार संसार दुःखमय है। सर्वत्र दुःख ही दःख वर्तमान है। जन्म भी दःख है, वृद्धावस्था भी दुःख है, मरण भी दुःख है। दौर्मनस्य, परिदेवना, शोक, उपायास सब दुःख है। प्रिय का वियोग, अप्रिय का समागम, अपेक्षित का दुर्लभ होना सभी कुछ तो दुःख है। राग के द्वारा समुत्पन्न रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान भी दुःख ही है:—

"इदं खो पन भिक्खवे दक्खं अरिय सच्चं। जाति पि दुक्खा, जरापि दुक्खा, मरणम्पि दुक्खं, सोकपरिदेव–दोमनस्सुपायासापि दुक्खा, अप्पियेहि सम्पयोगो दुक्खो, पियेहि पिप्पयोगो दक्खो यम्पिच्छं न लभति तम्पि दुक्खं, संखित्तेन पंचूपादानक्खंन्धापि दक्खा॥"

सत्य तो यह है जब यह संसार जलते हुए घर की भांति ही है तो यहां कहां है हंसी और कहां है सुखः—

को नु हासो किमानन्दो निच्चं पज्जलितेसति

—धम्मपदगाथा १४६

इस दुःख का हेतु मानव की 'तृष्णा' है। मनुष्य स्वयं अपने द्वारा सृजित दुखों में ठीक उसी प्रकार फंसता रहता है जैसे मकड़ी स्वनिर्मित जाल में फंस जाती है:—

ये रागरत्ता न पतंति सातं, सयं कतंमक्कटका व जालं

—धम्मपद गाथा ३४७

अतएव तृष्णा और दःख समान रूप से त्याज्य हैं। चतुर्थ आर्य सत्य है 'दुखनिरोधगामिनी प्रतिपद'। इसे 'अष्टांगिक मार्ग' भी कहा गया है। ये आठ अंग इस प्रकार हैं:—

१—प्रज्ञा { (१) सम्यक् दृष्टि
(२) सम्यक् संकल्प

२—शील
- (३) सम्यक् वाचा
- (४) सम्यक् कर्मान्त
- (५) सम्यक् आजीविका

३—समाधि
- (६) सम्यक् व्यायाम
- (७) सम्यक स्मृति
- (८) सम्यक समाधि

उपर्युक्त इन आठ मार्गों पर चलने वाला मानव दुखों का विनाश कर 'निर्वाण' प्राप्त कर लेता है।

बौद्ध धर्म दुःखवादी है निराशावादी नहीं। निराशावादी के मतानुसार संसार में दुःख है और इन दुखों से किसी भी प्रकार छुटकारा नहीं है। परन्तु बौद्धधर्म कहता है कि दुःख है और उसका उपाय भी है। अतएव बौद्ध धर्म निराशावादी नहीं वरन दुःखवादीमात्र है। साथ ही उसे आशावादी भी कहना असंगत न होगा।[1] दुखों से परिपूर्ण संसार में भी बौद्धों को

1—The burden of its teaching is that all suffering (Sarvam-Dukham) all the water all seas are not to be compared with the flood of tears which has flowed since the universe first was. Evil or the misery of 'Samsara' is not real and the foremost aim of man is to effect an escape from it. When we describe Buddha's teaching as pessimistic, it must not be taken to be a creed of despair. It does not indeed promise joy on earth or in a world to come as some other doctrines do. But it admits the possibility of attaining peace here and now, whereby man instead of being the victim of misery will become its victor. It no doubt emphasises the dark side of life but the emphasis merely shows that life as it is commonly led is marred by sorrow and suffering and not that they are its inalienable features—"

—Outlines of Indian Philosophy by M. Hiriyanna

जीदित रहने की आकाक्षां अथवा चाह इसलिए शेष रही कि वे (दुखों से ग्रस्त होते हुए भी) भविष्य के प्रति आशावादी थे। वे दुखों से निवृति भले ही चाहते थे पर देह का परित्याग करना कहीं नहीं चाहते हैं। कारण स्पष्ट है। दुःख स्थायी कभी भी नहीं है। यदाकदा सुख का मान भी होता ही रहता है। इसीलिए मनुष्य के हृदय में इच्छा जाग्रत रहती है कि "सुखं भूयात् दुःखं मा भूयात्।"

हिन्दी के आदि युगीन सिद्ध कवियों का आविर्भाव बौद्धों की परम्परा में हुआ था। अतः दुखवाद विषयक इनका दृष्टिकोण बौद्धों से पूर्णतया साम्य रखता है। इन कवियों की रचनाओं में न तो 'चार आर्य सत्यों' का स्पष्ट उल्लेख मिलता है न 'अष्टांगिक मार्ग' का ही। परन्तु इन दोनों ही सिद्धान्तों का सारतत्व कवियों ने अपनी सरल भाषा में स्वाभाविक शैली में अवश्य व्यक्त किया है। सिद्ध कवियों में दुखवाद के साथ आशावादी दृष्टिकोण भी चित्रित हुआ है जैसा कि बौद्ध मत की विवेचना करते हुये ऊपर लिखा जा चुका है। इन कवियों ने संसार, काया, नारी, माया आदि सभी में दुःखों की सजीवता देखी है परन्तु उनमें आशावादी विकारों का अभाव नहीं है। सामान्यतया सिद्धों का दुखवाद निम्नलिखित शीर्षकों में व्यक्त हुआ है:—

(१) काया नरक [1]
(२) आवागमन दुःख [2]
(३) गर्भवास दुःख [3]
(४) संसार तुच्छ [4]

---

१. हिन्दी का० रा० सां० पृ० १२२ २. हिन्दी का० रा० सां० १२४
३, ,, ,, ,, ,, ,, १२४ ४. ,, ,, ,, ,, १२७

(५) कोई किसी का नहीं[1]
(६) भोग में योग[2]
(७) आत्मा[3]

सरहपा, स्वयंभू, मुसुकया, लुईया, विरूपा, गोरक्षपा, आदि कवियों ने दुःख के प्रति उपर्युक्त दृष्टिकोण को ही अपनाया है।

जैन कवियों के अनुसार जब तक आत्मा बोध नहीं प्राप्त करती है तब तक वह पुत्र कलत्रादि में संलग्न रहकर साधना से च्युत होकर भांति भांति के दुखों का सहन करता है। इस प्रकार के व्यक्ति के लिए दुःखों का भोग किसी प्रकार कम नहीं है। जीव मोह के वश में पड़कर मोक्ष से वंचित रह जाता है और यही दुःख है। विषय सुख दो दिन के हैं और फिर वही दुखों की परिपाटी प्रारम्भ हो जाती है। मानव जान बूझ कर अपनी ही कुल्हाड़ी से अपने कन्धे पर प्रहार करता फिरता है! मुनिरामसिंह जैन साहित्य के महाकवि और प्रतिनिधि कवि माने जाते हैं। उनकी निम्नलिखित पंक्तियों से जैन धर्म का दुःख विषयक दृष्टिकोण स्पष्ट होजायगा:—

जोणिहिं लक्खहिं परि भमइ अप्पा दुक्खु सहन्तु।
पुत्त कलत्तहं मोहियउ जाम ण बोहि लहन्तु ॥८॥
जं दुक्खु वित सुक्खु किउ ज सुहु तं पि य दुक्खु।
पइं जिय मोहहिं वसि गयइं लेण ण पायउ मुक्खु ॥१०॥

---

१. हिन्दी का० रा० सां० पृ० १३० २. हिन्दी का० रा० सा० पृ० १६२
३. हिन्दी काव्यधारा राहुल सांकृत्यायन पृ० २४३

मोक्खु ण पावहि जीव तुहुँ धणु पिय्यणु चिंतंतु ।
तो इ विचिंतहि तउ जि तउ पावहि सुक्खु महंतु ॥११॥
विसयसुहा दुइ दिवहडा पुणु दुक्खहं परिवाडि ।
भुल्लउ जीव म वाहि तुहुँ अप्पा खंधि कुहाडि ॥१७॥
अण्णु जि जीउ म चिंति तुहुँ जइ बीहउ दुक्खस्स ।
तिलतुस मित्तु वि सल्लडा वेयण करइ अवस्स ॥७४॥

—पाहुड दोहा ।

अब हिन्दी काव्य में दुःख व्यंजना के प्रति ध्यान दीजिए। हिन्दी का चारण काव्य प्रमुख रूप से वीर रस एवं ओजगुण से युक्त था। अतः इस युग में उस कोमल अनुभूति की शृंखला प्रायः लुप्त सी होगई थी। इस काव्य में प्रेम के अतिरिक्त अन्य कोमल भावनाओं को अनुभूति का आधार नहीं बनाया गया। इस युग के कवियों को यदि दुःख के दर्शन कहीं पर हुए हैं तो वह वीर नायक और नायिका के विरह निवेदन में। इस कोटि का वर्णन भौतिक दुःख को जाग्रत करने मात्र में सफल हुआ है। उस युग में दुःख आलिंगन करने की वस्तु नहीं थी वरन् वह गर्व के साथ करवाल की नोक पर उठा कर शत्रु के ऊपर फेंक देने योग्य वस्तु थी। हृदय की कोमलता के साथ ही भावों की अनुभूति भी कोमल बन जाती है। भाव एवं भावनाओं का नीड हृदय ही तो है। इन्द्रियां आलम्बन का सन्देश सम्प्रेषित करके उन्हें जाग्रत कर देती है। कालान्तर में कठोर शारीरिक रोष ठंढा पड़ जाने पर प्रेम एवं विरह जनित पीड़ा का आनन्द भक्त एवं रसिक कवियों के हृदयों से फिर उमड़ पड़ा।

मानव हृदय की शाश्वत भावना में प्रेम का प्रमुख स्थान

है। इस प्रेम का अनुभव वह विविध प्रकार से भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में करता रहता है। प्रेम की स्वतन्त्र व्यंजना को व्यक्त करने के हेतु बड़े-बड़े रहस्यवादियों ने, सूफियों ने, भक्तों ने आत्मा परमात्मा को पति-पत्नी के सम्बन्ध में संसार के सम्मुख रखा है। रहस्यवाद के इसी प्रेम में संतों की आत्मा नारी बन कर ब्रह्म के लिए और सूफी मत के इसी प्रेम में जायसी की जीवात्मा पुरुष बनकर ब्रह्म रूपी स्त्री के लिए तड़पती है। यह प्रेम मन के, आत्मा के अथवा हृदय के अपने आलम्बन, आराध्य के साथ परस्पर संयोग और सम्पर्क से समुत्पन्न होता है परन्तु इसमें ज्योंही बाधा पड़ती है त्यों ही हृदय को कष्ट होता है, दुःख होता है। यही भाव चैतन्य, चण्डीदास, विद्यापति आदि कवियों के दुःखवाद का आधार है। चैतन्य के सखी भाव की लीला पर कौन हृदय विह्वल और व्यथित नहीं हो जाता है। विरह दुःख की तड़पन आगे चलकर वैष्णव कवियों के काव्य का प्रमुख विषय बन गया। चण्डीदास की निम्नलिखित पंक्तियों में यही भाव लहरें ले रहा है:—

"ए मन कभु देखि नांई शुनि।
पराणे पराण बांधा आपना आपनि॥
दु'हु कोडे दु'हु कांदे विच्छेद भाविया।
तिल आधे ना देखि ले जाय जे मरिया॥
जल बिनु मीन जने कबहु ना जीये।
मानुषे एमन प्रेम कभू ना देखिये॥

मैथिलि कोकिल विद्यापति की यही दुःख भावना निम्नलिखित पंक्तियों में व्यक्त हुई है:—

सखि हे हमर दुखक नंहि ओर ।
ई भर बादर माह भादर,
सून मन्दिरु मोर ।
झंपि घन गरजन्ति संतत,
भुवन भरि बरसतिया ।
कन्त पाहुन काम दारुन
सधन खर सर हंतिया ।
कुलिस कत सत पात मुदित
मयूर नाचत मातिया ।
मत्त दादुर डाक डाहुक
फाटि जायत छातिया ।
विद्यापतिं कह कइसे गमाओब
हरि बिना दिन रातिया ।

अब हिन्दी के संत-कवियों की दुःख भावना की ओर ध्यान दीजिए। इन कवियों की दुःख भावना जितनी ही व्यापक है, उतनी ही गम्भीर। इन्हें संसार आद्योपांत दुःख की अवाध धारा में निमग्न प्रतीत होता है। इन्हें अखिल संसार दुःखमय और दुःख से परिपूर्ण दृष्टिगत हुआ। इस संसार में यदि कुछ भी दुःख से विहीन है, कुछ भी दःख से अछूता है तो वह 'राम' और 'नाम' मात्र है।

सन्तों की दुःख भावना पर बौद्ध दर्शन का बड़ा स्पष्ट प्रभाव पड़ा, जैसा कि आगे के विवेचन से प्रकट होगा।

बौद्धों की भांति इन्होंने कहीं पर निराशावादी दृष्टिकोण नहीं अपनाया।

संतों के मतानुसार दुःख का उद्रेक सुख के नियमों को भंग करने पर होता है, यथा रोग का कारण स्वास्थ्य के नियमों का भंग करना है। मानव अपने मन के कारण सुख दुःख का अनुभव करता है। मन ही समस्त विकारों का अनुभव करता है। इसीलिए मन की गति को आमूल समाप्त कर देने के लिए सन्तों ने बारम्बार उपदेश दिया है। मन की जागरित अवस्था को समाप्त कर देना ही दुःख का इति कर देना है। अस्थिरता की अवस्था में मन को दुःख का अनुभव और भी अधिक होता है। इसलिए मन की वृत्ति को एकाग्र कर लेने से दुःख का संस्पर्श नहीं होता है। परब्रह्म-स्वरूप आत्मा को भली भांति निकट से न पहचान सकने के कारण मन में भांति भांति की भ्रांतियां, अस्थिरतायें और संताप का जन्म होता है। अतः वास्तव में दुःख का प्रधान कारण आत्मा का अज्ञान है। इसके अनन्तर निमित्त कारण उस अज्ञान की शाखा, रूप मोह तृष्णा, कामना, विषयासक्ति तथा आभ्यांतरिक दौर्बल्य है। गुरु नानक के मत से सुख दुःख केवल मन की व्यथा और उत्पत्ति है। मन को निर्मूल कर डालने पर मन के ये समस्त विकार विलीन हो जाते हैं।

प्रभु जी तूं मेरे प्रान अधारे।

नमस्कार डंडौत बन्दना अनिक बार जाऊं बलिहारे॥

उठत बैठत सोवत जागत, इहु मन तुझे चितारे।

सूख दूख इस मन की विरथा, तुझ ही आगे सारे॥

तूं मेरी ओट बल बुधि धन तुमहीं तुमहिं मेरे परिवरे ।
जो तुम करो सोई भल हमरे, पेख नानक सुख चरना रे ॥

सुख का बीज दुःख के गर्भ में सन्निहित है। अंधकार एवं प्रकाश, दुःख एवं सुख एकमेवाद्वितीयम् सत्य के दो विभिन्न स्वरूप हैं। वेदना का स्थान मानव जीवन में अधिक गम्भीर और रसमय है। दुःख में स्थिरता, गांभीर्य एवं अपरिमिति का भाव पाया जाता है। सुनील गगन की स्तब्ध निबिड़ता में जो अनन्त की स्थिर शांति एवं महती गरिमा का भाव उदय होता है वह अनन्य है। किंतु सुख का अस्थिर आलोक क्षणिक है। आकर्षक होते हुए भी उस में स्थायित्व का नितांत अभाव है। वह गम्भीर कालिमामय प्रशांत सागर की कल्लोलमय तरंगमाला के शुभ्र फेन के सदृश्य सुन्दर तथा क्षणिक है। आलोक अंधकार के रहस्यमय गर्भ से उद्भूत होता है और सुख दुःख के गर्भ से विकसित होता है अतः दुःख भी उतना ही आलिंगन की वस्तु है जितना कि सुख।† कबीर आदि सन्तों ने दुःख से

---

† भाव साम्य के लिए प्रसाद और पंत की निम्नलिखित पंक्तियों को उद्धृत कर देना रोचक प्रतीत होगा :—

(१) जिसे तुम समझे हो अभिशाप,
जगत की ज्वालाओं का मूल!
ईश का वह रहस्य वरदान,
कभी मत जाओ इसको भूल ॥ (कामायनी)

(२) तरसते हैं हम आठों याम, इसी से सुख अति सरस प्रकाम;
झेलते निशि दिन का संग्राम, इसी से जय अभिराम
अलभ है इस अतः अनमोल, साधना ही जीवन का मोल!
पल्लव—'परिवर्तन'।

(३) बिना दुःख के सब निस्सार। बिना आंसू के जीवन भार॥

सुख को किसी प्रकार भी कम नहीं माना है। उनकी दृष्टि में दोनों एक ही वस्तु के दो पक्ष हैं। सन्तों ने बराबर इस बात को दुहराया है कि बिना दुःख के सुख हेय, घृणित और निःसार है। वह जीवन भार है जिसका आधार आंसू न हो। सन्तों ने दुःख ही को सुख माना है। सुन्दरदास दुःख को सुख और सुख को ही दुःख मानते हैं। कवि के शब्दों में :—

सुन्दर पतिब्रत राम सों, सदा रहै इकतार।
सुख देवै तो अति दुखी, दुख तो सुखी अपार॥

इसीलिए मालूकदास संसार भर के दुःख को आलिंगन करने के हेतु प्रस्तुत हैं।

जे दुखिया संसार में, खोवों तिन का दुक्ख।
दलिद्दर सौंप मलूक को, लोगन दीजै सुक्ख॥

संत पलटू के मतानसार दुःख के भीतर ही वास्तविक सुख और मुक्ति का बीज निहित है। इसके विपरीत सुख नरक का आगार है। इसीलिए कवि इन दोनों की तुलना में दुःख ग्रहण करने का मलूकदास की भांति पक्षपाती प्रतीत होता है :—

सुनि लो पलटू भेद यह, हंसि बोले भगवान।
दुख के भीतर मुक्ति है, सुख में नरक निदान॥

नानक के मतानुसार दुःख-सुख दोनों ही ईश्वर का प्रसार है अतः इन्हें मस्तक पर आदरपूर्वक धारण करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है :—

मन मूरख काहे बिलावै, पूर्व लिखे का लेखा पावै ।
दुक्ख सुक्ख प्रब देवन हार, अवर त्यागि तूं तिसै चितार ॥
जो कछु करै सोई सुख मान, भूला काहे फिरै अयान ॥

जगजीवन साहब ने तीन लोकों में किसी को भी सुखी न देखा :—

पपिहै जाय पुकारेऊ, पंछिन आगे रोय ।
तीन लोक फिरि आयेऊँ, बिनु दुख लख्यो न कोय ।

दादू को तो आश्चर्य इस बात पर है कि दुःख से संतप्त होते हुए भी संसार चेतता नहीं है। इस संसार की गति बड़ी विचित्र है। इसने झूठ को सत्य, विष को अमृत, और दुःख को सुख मान लिया है। सचमुच जगत दीवाना हो गया है :—

झूठा सांचा करि लिया, बिष अमृत जाना ।
दुख का सुख सब को कहै, ऐसा जगत दिवाना ॥

दुःख का मूल कारण आत्मा का अज्ञान है। अपने आप को भूलना तथा निमित्त कारण उस अज्ञान की शाखा-रूप मोह, तृष्णा, कामना विषयासक्ति तथा आभ्यान्तरिक दौर्बल्य है। संत कवि चरणदास के मतानुसार नारी में विषयासक्ति[१], संसार से अत्यधिक मोह[२], जग के आकर्षक रूप[३], काम, क्रोध, लोभ[४], इन्द्रियां[५], भवताप[६], आवागमन[७], तथा मानव के अपने दुष्कृत्य[८] दुःख के उद्रेक के कारण हैं।

---

१. चरण० की बा० २७/१ तथा २६/१, २. च० की बा० ३०/८०
३. ,, ३२/६४ ४. ,, ३३/१०२
५. ,, ३६/१ ६. ,, ५७/३
७. ,, ७६/६ ८. ,, २१६/८६

धरनीदास के मत से ब्रह्म का विरह ही दुःख का मूल कारण है। अन्यथा उसके दर्शन से संसार के समस्त ताप, संताप और दुःख विलीन हो जाते हैं।[१] भीखा साहब के अनुसार कपट आशा[२], कपट कुचाल[३], आवागमन[४] तथा भक्ति भावना का अभाव ही दुःख का मुख्य कारण है[५]। दयाबाई ने दुःख का मूल कारण प्रियतम परमात्मा से विरह[६] और आवागमन[७] को माना है।

दुःख का मूल कारण सामान्यतया अज्ञान है। अतएव अज्ञान के निवृत्त करने का उपाय ही दुःख की निवृत्ति का मूल साधन है। अज्ञान की निवृत्ति ज्ञान से होती है यथा अंधकार की निवृत्ति प्रकाश से होती है। चरणदास के मत से दुःख की निवृत्ति गुरु द्वारा प्रदत्त अन्तर्दृष्टि[८], हरिभक्ति,[९] संयम[१०] नाम जप,[११] अनहद नाद,[१२] साधु सेवा,[१३] और चिन्तन से सम्भव है।[१४] दयाबाई के अनुसार भजन[१५] और पिय रूप दर्शन[१६] दुःख का विनाशक है।

धरनीदास के शब्द में ऐसा दुःख धन्य है जो मानव को समदृष्टिवान बना देता है :—

जाहि परो दुख आपनो, सो जानै पर पीर।
धरनी कहत सुन्यो नहीं, बांझ की छाती छीर॥

---

१. धरनीदास की बानी ५१/२३ २. भी० सा० की बा० २/३
३. भीखा साहब की बानी १२/१ ४. ,, ,, ५७/४
५. ,, ,, ५८/६ ६. दयाबाई की बानी ६/१२
७. दयाबाई की बानी १६/५१ ८. चरण० की बानी १/२,४
९. च० की बानी १४/१ तथा ८४/६ १०. ,, २४/४८
११. ,, ४/२ १२. ,, ५१/१
१३. ,, ६१/५ १४. ,, १२३
१५. दयाबाई की बानी ३/२ १६. दयाबाई की बानी १२/१६

सन्त-साहित्य की महान् परम्पराएं

कवि का देश-काल से घनिष्ठ सम्बन्ध है। उसकी लेखनी देश-काल से निरपेक्ष होकर साहित्य सर्जन नहीं कर सकती है। देश-काल और कवि एक दूसरे को अत्यन्त प्रभावित करते हैं, इसमें सन्देह नहीं है। कवि भूत की घटनाओं से और वर्तमान के तथ्य अथवा कठोर सत्यों से अपना घनिष्ठ ही नहीं, वरन् अविच्छिन्न सम्बन्ध रखता है। आंग्ल भाषा के सम्मानित कवि एवं प्रतिष्ठित आलोचक श्री टी० एस० इलियट का कथन—"कवि को अपनी हड्डियों में सिर्फ अपने युग को ही लेकर नहीं लिखना चाहिए। उसे तो इस अनुभूति से प्रेरित होना चाहिए कि होमर से लेकर योरप का समस्त साहित्य, जिसके अन्तर्गत उसके अपने देश का सम्पूर्ण साहित्य भी आ जाता है, उसके लिए आपाततः महत्व रखता है, और एक साथ ही एक योजना प्रस्तुत करता है।" यहां पर हमारा सम्बन्ध कवि और अतीत से है। कवि का अतीत से घनिष्ठ प्रेम रहता है। वह अपने पूर्व होने वाले कवियों द्वारा निर्दिष्ट अथवा विनिर्मित मार्ग को और भी सुदृढ़ एवं प्रशस्त करने का प्रयत्न करता रहता है। भूतपूर्व कवियों के आदर्शों के प्रति उसका मोह रहता है; उनके द्वारा संस्थापित परम्परा को वह जीवित एवं पल्लवित रखने के हेतु सतत उद्योगशील रहता है। वह उस महान परम्परा का आजीवन प्रतिनिधित्व करने के हेतु प्रयत्नशील बना रहता है। किसी महान् परम्परा को जीवित

रखने के हेतु कवि का सुशिक्षित एवं संस्कृत होना आवश्यक तो है, पर अनिवार्य नहीं है। कबीरदास, गोरखनाथ जनता के अशिक्षित ही नहीं, निरक्षर कवि थे, फिर भी उन्होंने संत-साहित्य की महान् परम्पराओं को जीवित रक्खा, और उसका प्रतिनिधित्व किया। संतों के साहित्य में ही नहीं, प्रायः प्रत्येक कालीन युग साहित्य में उस युग की प्रवृत्तियों का समावेश रहेगा, उसकी प्रतिध्वनि रहेगी, जिन्हें उन साहित्याकारों ने देखा व सुना। संक्षेपतः साहित्यकार को समस्त संस्कारगत रूढ़ियां, साहित्यिक मान्यताएं एवं अभिव्यंजना शैली अतीत के कवियों से देन के रूप में प्राप्त होती रहती है।

परम्परा काल व स्थान की शृंखला में निबद्ध होकर अग्रसर नहीं होती। वह समय की लम्बी-लम्बी सीढ़ियां नापती अग्रसर होती है। वह सांचे में ढलना या ढाल में फिसलना भी नहीं स्वीकार करती। वास्तव में वह तो अतीत से आज की ओर प्रवाहमान प्रगति की मूल धारा है, जो आकस्मिक नहीं होती है। परम्परा हिमांचल के उस झरने की भांति है, जो कहीं द्रुतगति और कहीं अत्यन्त क्षीण होकर भूमि-खण्ड की ओर प्रवाहमान रहता है। 'राम-काव्य' की जो परम्परा आदि कवि की लेखनी से प्रवाहित हुई थी, उसके दर्शन हिन्दी के भक्ति-काल में तुलसीदास जी के 'मानस' में लहरें लेती हुई दृष्टिगत होती है, और फिर रीति काल में केशव के काव्य में परिलक्षित होती हुई मैथिलीशरण गुप्त के 'साकेत' में भी प्रवाहित मिलती है। रीति कालीन परम्पराएं जो 'देव' बिहारी एवं मतिराम में उपलब्ध होती हैं, वही भारतेन्दु बाबू और रत्नाकर के साहित्य में ऊर्ध्व श्वासें लेती हुई दृष्टिगत होती है। इसी प्रकार चारणों की परम्पराओं को आज भी श्यामनारायण पाण्डेय के काव्य में

पाया जा सकता है। परम्परा से साहित्यकारों का विशेष मोह होता है, यह ऊपर कहा जा चुका है। उसके दो कारण हैं— प्रथम, कवि या साहित्याकार भूत से अनुभूति प्राप्त करने के हेतु लालायित रहता है, और द्वितीय वह अतीत का वर्तमान से समन्वय करने के लिए समुत्सुक रहता है। यही दोनों कारण उसे परम्परा से सम्बद्ध रहने के लिए प्रेरित करते रहते हैं।

सत-साहित्य की सर्व-प्रथम महान् परम्परा है मानवता। मानवता प्रायः सभी प्रकार के आर्तवाद का विरोधी है। इसका सब से बड़ा लक्ष्य है अतीत के अनुभव एवं ज्ञान से वर्तमान की उच्छृंखलाओं एवं अमर्यादाओं को दूर करके मर्यादा की संस्थापना। मानवता के कारण दृष्टिकोण में औदार्य का समावेश हो जाता है। भारतीय संस्कृति आर्तवाद की विरोधी नहीं है, और साहित्य में भी यही धारा उपलब्ध होती है। दर्शन के क्षेत्र में जो थोड़ी-बहुत कटुता थी भी वह साहित्य में अधिक से अधिक तो उपालंभ बनकर रह गई। कबीर यदि केवल दार्शनिक या सन्त ही रहते, तो उनकी कटुता कितनी चोट पहुंचाने वाली होती! किन्तु अभिव्यंजना-विधि में उनकी कटुता बहुत कुछ मृदु हो जाती है, और उनकी मानवता की सतह पर आ पाती है। "हिन्दू-मुसलमान एक हैं, परमात्मा ही तो 'राम' है।" भारतीय सन्तों का साहित्य मानवता से ओत-प्रोत है। मानवता ही कबीरदास, नानक, दरिया, जगजीवन, सुन्दर, मलूक आदि संतों के काव्य का गौरव है।

सन्त-साहित्य की द्वितीय महान् परम्परा मानववाद है। मानववाद का मूल लक्ष्य है संसार के सभी जीवों के कष्ट को मिटाना। मानववादी के हृदय में व्यथित के हेतु सहानुभूति

एवं समव्यथा की भावना रहती है। वह संसार को सुखी और प्रसन्न देखना चाहता है। वह मानव की आर्थिक, सामाजिक, शारीरिक तथा आध्यात्मिक सभी दशाओं को सुधारमे के लिए प्रयत्न करता है। मानववादी साहित्य और मानव-जीवन को एक दूसरे के निकट लाने के लिए प्रयत्न करता है। मानववादी मानवता को सर्वथा शृंखलाओं से उन्मुक्त देखना चाहता है। वह भविष्य में एक स्वस्थ और आशा-पूर्ण दृष्टिकोण का कांक्षी रहता है। प्रगतिवादी हिन्दी-साहित्य, जिसके मूल में मार्क्सवाद वर्तमान है, इसी मानववाद के आधार पर स्थित है। यह मानववाद सन्तों के साहित्य में ओतप्रोत है। एक भी ऐसा सन्त कवि नहीं है, जिसका लक्ष्य मानववाद न रहा हो। मानव के आध्यात्मिक और लौकिक जीवन को सुखी बनाने के लिए उन्होंने बारम्बार सन्मार्ग, कल्याणकारी पक्ष की ओर संकेत किया। इसीलिये तो सन्तों ने जनशोषण के विरुद्ध बार-बार उपदेश दिया है। उन्होंने वर्ग भेद की कटु आलोचना की। मानववाद संतों की सबसे बड़ी विशेषता है। कबीर जैसे उदाराशय व्यक्ति ससार में सभी को सुखी देखने के आकांक्षी शे। मानववाद की पराकाष्ठा मलूकदास के साथियों में उपलब्ध होती है। कवि संसार-भर के दःख, कष्ट और दारिद्र्य को अपने सिर पर इसलिए ले लेना चाहता है कि संसार का भार हलका हो जाय। मानववाद से ही प्रेरित होकर इन सन्तों ने संसार को भांति-भांति के कल्याणकारी मार्ग प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया है।

सन्त साहित्य की तीसरी महान् परम्परा है धार्मिकता। सन्त-साहित्य ही क्यों, सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्य ही इस महान् परम्परा से सम्बद्ध है। सन्त-साहित्य इसका अपवाद नहीं कहा

जा सकता है। धार्मिकता की परम्परा के विषय में अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है। कारण कि सम्पूर्ण सन्त साहित्य की रचना ही धर्म और धार्मिकता को दृष्टि में रखकर की गई थी। यह अवश्य है कि इन सन्तों ने धर्म-विषयक और विचार-धारा और धारणा में क्रान्ति समुपस्थित करदी। और उस धारणा को एक नवीन और आर्य व सुगम रूप प्रदान कर जनता के समक्ष रक्खा। धर्म को सन्तों ने वाह्याडम्बर, निस्सार आकार और अमानुषिक बलिदान से रहित कर उसके अत्यंत सरल और साहस रूप को सर्व-प्रथम भारतीय जनता को दिखाया। परिष्कृत और सुगम धर्म का दृढ़ मार्ग जनता को अधिक प्रिय प्रतीत हुआ। सन्तों के पूर्व धर्म समाज के उच्च, समर्थ और धनी वर्ग की वस्तु थी। सामंतों ने पापों के उपशमन के लिए धर्म को एक साधन मान लिया था। संचित दुष्कर्मों की कालिमा को धो देने के लिए धर्म को उन्होंने अमोघ अस्त्र बना लिया था। भांति-भांति के अनाचार, दुराचार, शोषण, हत्या और कुकर्म धर्म के नाम पर बराबर होते चले आ रहे थे। महायान और हीनयान के पतनावस्था में रजवाड़ों ने विषय-वासना को शान्त करने के लिए धर्म की ओट लेकर इन "यानों" को ग्रहण कर लिया था। पर सन्तों ने अपने प्रयत्न से धर्म और धार्मिकता के इस रूप को बदलकर अधिक कल्याणकारी बना दिया।

सन्त साहित्य की चौथी महान् परम्परा है जातीयता। मध्य युगीन सन्तों ने अपनी वाणी द्वारा एक महान् सांस्कृतिक चेतना में समस्त देश को बांध दिया। देश के प्रत्येक क्षेत्र—बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात और उत्तराखण्ड में एक साथ उस महान् सांस्कृतिक चेतना के फल-स्वरूप जातीयता का विकास

हुआ। इस जातीयता का उत्थान व विकास सामन्ती बंधनों और शृंखलाओं के छिन्न-भिन्न हो जाने पर हुआ। जातीयता के विकास का क्रम मध्यकालीन भारत में, बंगला, गुजराती, मराठी आदि भाषाओं के साथ प्रारम्भ हुआ। हिन्दी के सन्त कवियों ने इस जातीयता की ओर सबसे अधिक ध्यान दिया, सबसे अधिक पहचानने का प्रयत्न किया। उनके सशक्त और दृढ़ स्वर जातीयता के प्रसार एवं प्रचार के माध्यम बने। सन्त कवि अधिकतर अपढ़ थे, निरक्षर थे। उन्हें भाषा और साहित्य का ज्ञान भी नहीं था। उन्होंने काव्य-शास्त्र के ग्रन्थ, लक्षण और रीति-आचार्यों की पुस्तकों का भी अध्ययन नहीं किया था। लक्षण और रीति-ग्रन्थों द्वारा प्रसूत जिस सांस्कृतिक सूत्र में किसी समय देश बांधा जा चुका था, वह इन सन्तों को न मान्य था, न प्रिय था। लक्षण-ग्रन्थों की संस्कृति का दरबारी संस्कृति और सभ्यता से अभिन्न सम्बन्ध था। उस पर सामन्तवाद का गाढ़ा रंग चढ़ा हुआ था। आश्रयाकांक्षी कविजन इस दरबारी संस्कृति के वाहक बने। यह संस्कृति मानव के व्यक्तित्व-विकास की विरोधी थी। सन्तों द्वारा पोषित जातीयता और सामन्तों द्वारा पालित जातीयता की सामाजिक शक्ति में भी महान् अन्तर था। दरबारी संस्कृति समाज को पुरातन परिपाटी की पटरी पर ले जाना चाहती थी, और इसी कारण उसमें रूढ़िप्रियता, एकरसता और निष्प्राणता का प्राधान्य है। सन्त जनता के प्रतिनिधि थे। वे जनता के मनोभावों, उनकी दशा और उनकी समस्याओं से परिचित थे। वे जनता की स्थिति और नियमों के सूक्ष्म पर्यालोचक थे। वे जनता में जनता के बनकर रहते थे। वे जानते थे कि राजगद्दियों पर विकसित यह संस्कृति जनता की अपनी नहीं है। आधी धोती

पहनकर और आधी रोटी खाकर जीवन के दिन भरने वाली तिरस्कृत, अपमानित और अभिशप्त जनता के लिए इस संस्कृति का कोई लाभ नहीं है। फलतः सन्तों ने जातीयता के प्रचार के लिए भी इन सन्तों ने रूढ़िवादी साधनों को परित्यक्त करके नवीन साधनों को ग्रहण किया। इन सन्तों ने जातीयता का प्रसार और प्रचार 'भाषा' के द्वारा किया। उन्होंने 'भाषा' को जातीयता का गौरवपूर्ण अंग, जीवन और प्रगति माना। "संस्कीरति है कूप-जल, भाषा बहता नीर" कहकर कबीर ने दिखा दिया कि भाषा की क्या आवश्यकता है, और क्या है उसका महत्व। इतना ही नहीं, कबीरदास, नानक, मलूक, दरिया, मीरा, सहजो, गरीबदास आदि सभी ने जातीयता के विकास के लिए जनता की कहावतों, लोकोक्तियों, रूपकों, अलंकारों, उपमाओं आदि को अपने काव्य में स्थान दिया। उन्होंने उन्हीं छन्दों का प्रयोग किया, जिनसे जनता परिचित—चिरपरिचित थी। वास्तव में वे जीवन भर जनता और जातीयता के लिए जिए और मरे।

संत-साहित्य की पांचवीं महान् परम्परा प्रगतिशीलता है। सन्तों से प्रायः ६०० वर्ष पूर्व हिन्दी-भाषा में काव्य-रचना का श्रीगणेश हो चुका था। सन्तों तक पहुंचते-पहुंचते साहित्य सिद्ध, जैन, वज्रयानी, नाथ, मनोरंजक कवि तथा चारणकालीन प्राकृत कवियों के हाथों से निकल चुका था। सन्तों के पूर्व साहित्य ने प्रायः छ-सात बार करवट बदली। प्रत्येक बार साहित्य का नवीन रूप, नवीन प्रकार। प्रत्येक कवि ने वर्ग विशेष की अभिरुचि एवं आवश्यकता को देखकर काव्य-रचना की। चारणकाल में काव्य को मनोरंजन, नायिकाओं के सौंदर्य-वर्णन और वीरों को युद्ध-भूमि में रक्तपात करने के हेतु

प्रोत्साहित करने का साधनमात्र माना गया। सिद्धों और जैनियों का साहित्य उपदेश का माध्यम बन गया। वे जनता को नितांत भूल गए। "हमारे इन कवियों के सामने वे पशु-तुल्य दास-दासी और उनके ऊपर होते पाशविक अत्याचार मौजूद थे। पद-पद पर अपमानित, त्रस्त, पीड़ित, किसान, कर्म्मी, कारीगर, जनता भी उनके सामने मौजूद थी। अकाल, महामारी, युद्ध और बाढ़ की दारुण यातना, हृदयद्रावक दृश्य भी उन्होंने आंखों से देखे होंगे, फिर भी इन कवियों की वृत्तियों में उनके बारे में इतनी चुप्पी क्यों? सोचे होंगे, अकाल, बाढ़, युद्ध, महामारी सब भगवान के भेजे हैं.....कवि की आत्मा को उधर ध्यान देने की जरूरत नहीं है (हिन्दी काव्य-धारा पृ० २०)।" इसी प्रकार चारणकालीन कवि सामन्तों के आश्रय में सुख का जीवन व्यतीत करने में समाज के उपेक्षित वर्ग, शोषित जनता और त्रस्त समुदायों को बिलकुल ही बिसर गए। चारणकाल के अवसान में इन सन्तों का अभ्युदय हुआ। इन्होंने प्रायः ६०० वर्षों से प्रवाहित साहित्य की धारा को पूर्णतया बदल दिया। इनमें से एक भी प्राकृत कवि नहीं था, और न किसी एक ने 'कलाबाज़ी' के लिए काव्य की रचना की। सन्तों के काव्य के दो विषय हैं—आध्यात्मिक और लौकिक। आध्यात्मिक भावों के अन्तर्गत भी उन्होंने एक क्रांति समुपस्थित कर दी। परम्परानुगत विचार धारा में उन्होंने अत्यधिक परिवर्तन समुपस्थित कर दिया। सन्तों से पूर्व वर्म उच्च बर्ग का स्वत्व था। मोक्ष पर उन्हीं का अधिकार था। मुक्ति का पासपोर्ट उन्हीं के हाथ में था, जिसे दे दिया, वही स्वर्ग की अप्सराओं द्वारा सेवित बना। पर इन सन्तों ने आध्यात्मिक क्षेत्र में क्रांति उपस्थित की। इन्होंने दृढ़ स्वर से कहा—"नहीं, धर्म किसी की पैतृक सम्पत्ति नहीं है। सभी मोक्ष के अधिकारी हैं। सभी

ज्ञान और योग के साधक हो सकते हैं। ब्राह्मण वही है, जो ब्रह्म को ध्याये।" इस प्रकार परम्परानुगत आध्यात्मिक विचार धारा में सन्तों ने एक प्रगति का समावेश कर दिया, जो समय और देश के लिए अतीव अभीप्सित था। परम्परानुगत आचार-पक्ष में भी सन्तों ने बड़ा परिवर्तन उपस्थित कर दिया। उन्होंने देखा कि भक्त चन्दन, स्नान, व्रत, नियम, तिलकादि में इतने फंस जाते हैं कि उन्हें सन्मार्ग ही नहीं दृष्टिगत होता है। फलतः उन्होंने बड़े ही स्पष्ट और कटु शब्दों में बाह्याचारों की निस्सारता प्रदर्शित की। लौकिक पक्ष में सन्तों ने क्या प्रगति की, इसका परिचय कबीर के काव्य से भले प्रकार मिल सकता है। उनकी नीत्युक्तियां साहित्य के पृष्ठों में अपने निरालेपन और नवीनता के लिए प्रसिद्ध हैं।

सन्तों ने अपने युग के साहित्य, समाज, धर्म, सभी में प्रगतिशील विचारों का समावेश किया। युग-युग से परित्यक्त और अभिशप्त अंत्यज वर्ग का कबीर जैसे परमार्थी सन्तों के प्रयत्न से ही उद्धार हो सका। सन्तों ने ही रक्तपात, भौतिकता और प्रतिकार-भावना के विरुद्ध उपदेश दिया। सन्त-साहित्य को देखने पर उसके अन्तर्गत एक चतुर्दिक प्रगति के लक्षण दृष्टिगत होते हैं।

तथ्य तो यह है कि सन्त कवि साहित्य में अपने युग से बहुत आगे बढ़ गए। उनका साहित्य सन्त की सीमाओं से आगे बढ़ गया है। उन्होंने उन नवीन दिशाओं की ओर अगुत्या निर्देशन किया, जो इस देश के लिए आज भी कल्याणकारी है। एक वह युग था, जब हिन्दी के कवि साहित्य-रथ के सारथी बनने की अपेक्षा सामन्तों के रथ के पीछे बांध दिये जाते थे या कहिए सामन्तों के रथों के पीछे दौड़ा करते थे।

सामन्ती वैभव के चकाचौंध से अंधे कवि को अपने आश्रयदाता के गुणगान के अतिरिक्त और कोई विषय ही नहीं मिलता था। इसका और भी पतित और हेय रूप हमें रीति-काल में उपलब्ध होता है। तत्कालीन कवियों ने नायिकाओं के न-जाने कितने भेद करके स्त्री जाति की पवित्रता पर कलंक लगा दिया। छोटे से बड़े कवि तक सभी को नारी कामिनी ही दिखाई दी। संसार के किसी और साहित्य में नारी के इतने नग्न रूप को दिखाने का कभी भी प्रयत्न नहीं किया गया। कवियों को नग्न नारी के रूप-वर्णन की सनक सी सवार हो गई थी। नारी के सीमित वृत्त में ही वे उपमा, रूपक और अनुप्रासों की कलाबाज़ी दिखाते हुए रह गए। घोड़ों, व्यंजनों और नारियों के नाम गिनाने में वह अपनी कल्पना का प्रसार देखता था। इस सीमित वृत्त की सीमा को तोड़कर सर्व-प्रथम आगे बढ़ने वाले थे हमारे सन्त कवि। आज सन्तों पर सबसे बड़ा दोषारोपण यह हो रहा है कि वे पलायनवादी थे। उन्होंने समाज को आलसी बनाया, दूसरे की कमाई पर पिस्सू बनकर उन्होंने गुलछर्रे उड़ाई। उन्होंने अजगरी वृत्ति का प्रचार किया। पर वास्तविकता तो यह है कि "सन्त कवि न तो पलायनवादी थे, और न दूसरे की कमाई पर पिस्सू बनकर जीवन यापन करने वाले थे।" मध्यकालीन साहित्य के वे एकमात्र क्रांतिकारी कवि थे। सामन्ती जड़ता, जातीय विभेद और साम्प्रदायिक घृणा के विपरीत उन्होंने मानवता की भावना को उभारा, जो मनुष्यता गिर रही थी, उसे उन्होंने ऊपर उठाया। उनके साहित्य को पढ़कर निराशा, पराजय और दीनता के भाव नहीं उत्पन्न होते; बल्कि आत्मविश्वास और आत्मसम्मान की भावना पुष्ट होती है।

सन्तों की परम्परा में गांधी

जे पहुँचे ते कहि गये तिनकी एकै बात ।
सबै सयाने एक मति तिन की एकै जात ॥ दादू

कबीर के दार्शनिक विचार, आध्यात्मिक साधना, ब्रह्म विषयक धारणा, एकत्व की भावना, समता का सिद्धान्त तथा अहिंसा, सत्य, आदि पर मत गांधी की विचार धारा में लहरें ले रहे हैं। कबीर की विचार धारा गांधी में चली आई है। कबीर और गांधी दोनों की प्रेरणा आध्यात्मिक हो रही है। कबीर ने उसका प्रयोग समाज सुधार के लिए, हिंसा वृत्ति को रोकने के लिए, वर्ग भेद की समता लाने के लिए किया है। गांधी ने उसका प्रयोग राजनीति के क्षेत्र में किया। अछूतोद्धार गांधी की सद्प्रेरणा को पाकर उसी प्रकार सफल हुआ जैसे कबीर की स्पष्टवादिता को प्राप्त कर के। कथनी और करनी में साम्य, सरल जीवन, सत्य निष्ठा, प्राणि मात्र के प्रति सत्य व्यवहार दोनों के जीवन का लक्ष्य रहा है। कर्म को जैसे कबीर ने महत्व प्रदान किया है वैसे ही गांधी ने भी। राम नाम का रहस्य दोनों ने सत्य में माना है। भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ आध्यात्मिक जीवन का विकास दोनों ही मानते हैं। विनय और दैन्य का महत्व दोनों में झांका और स्थान पाया है। इस लेख में गांधी और कबीर की ब्रह्म, नाम, अहिंसा और हिन्दू मुस्लिम ऐक्य विषयक धारणा साम्य पर विचार करेंगे। इन सभी विषयों पर दोनों महान् विचारकों का पूर्ण मतैक्य रहा है।

श्रीराम

गांधी जी की राम सम्बन्धी धारणा 'राम चरित मानस' के आधार पर निर्धारित हुई। गांधी जी ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है उन्हें भगवत गीता एवं रामायण से अत्यधिक शांति मिलती है।[१] राम पर गांधी जी की आस्था बाल्यावस्था से ही हो गई थी।[२] उस को और भी दृढ़ करने का कार्य गोस्वामी जी कृत 'नाम' की व्याख्या ने किया[३]। मानस में,

"मोरे मत बड़ नाम दुहूते।
जेहिं किय जुग निजबस निजबूते[४] ॥"

लिखकर गोस्वामी जी ने यह सिद्ध कर दिया कि 'नाम' सगुण और निर्गुण राम से भी बड़ा है और सगुण एवं निर्गुण ब्रह्म को नाम ने अपने वश में कर लिया है। तुलसीदास जी की राम विषयक भावना से प्रभावित होते हुये भी गांधी जी की ब्रह्म विषयक भावना भिन्न है। उनका ब्रह्म निर्गुण है जैसा कि आगे किये गये विवेचन से प्रकट होगा। अतएव गांधी के ब्रह्म अथवा राम को समझने के लिए हमें निर्गुण एवं

---

[१] भगवत गीता और तुलसीदास की रामायण से मुझे अत्यधिक शान्ति मिलती है। मैं खुल्लमखुल्ला कबूल करता हूं कि कुरान, बाइबिल तथा दुनिया के अन्य धर्मों के प्रति मेरा आदर भाव होते हुये भी मेरे हृदय पर उन का उतना असर नहीं होता है जितना कि श्री कृष्ण की गीता और तुलसीदास की रामायण का होता है।

हिन्दी नवजीवन २८-६-१९२४

[२] नवयुग ... ...

[३] रामचरित मानस

[४] रामचरित मानस बालकांड ... ...

सगुण धाराओं के सब से महान् दो मांझियों के ब्रह्म विषयक विचारों का सम्मेलन आवश्यक है।

तुलसी के राम

गोस्वामी जी ने कुम्भज आदि वंदित रघुबीर श्रीराम को अपना आराध्य माना है।[1] गोस्वामी जी के रघुबीर दशरथ नन्दन राम में ही निर्गुण ब्रह्म, महाविष्णु, मर्यादा पुरुषोत्तम का सामंजस्य है। गोस्वामी जी ने निर्गुण ब्रह्म में ही अपने इष्टदेव का तादात्म्य बताया है। उदाहरणार्थ :—

राम ब्रह्म परमारथ रूपा। अविगत अलख अनादि अनूपा॥
सकल विषय रहित गत भेदा। कहि नित नेति निरूपहि वेदा॥
सोई सच्चिदानन्द घन रामा। भज विग्यान रूप बल धामा॥
व्यापक व्याप्य अखंड अनन्ता। अखिल अमोघ शक्ति भगवन्ता॥
निर्मम निराकार निर्मोहा। नित्य निरंजन सुख सन्दोहा॥
प्रकृति पार प्रभु सब उर बासी। ब्रह्म निरीह विरज अविनासी॥

वास्तव में निर्गुण ब्रह्म ही राम है और 'राम' ही निर्गुण है। दोनों ऐसे मिले जुले हैं कि उन में कोई भेद नहीं है। वही निर्गुण भी है और वही ब्रह्म सगुण भी है। 'मानस' में गोस्वामी जी ने स्थान स्थान पर ब्रह्म का निर्गुणस गुण भावात्मक वर्णन भी किया है। गोस्वामी जी की निम्नलिखित पंक्तियों में जो ब्रह्म विषयक भाव उपलब्ध होते हैं उनका श्रीमद् भागवत,[2] गीता[3] आदि के भावों से बहुत सामंजस्य है :—

---

[१] जासु कथा कुंभज ऋषि गाई। भगति जासु मैं मुनिहि सुनाई।
सोइ मम इष्ट देव रघुबीरा। सेवत जाहि सदा मुनि धीरा॥
२६ . . . २२, २३

(क) जय राम रूप अनूप निर्गुण सगुन गुन प्रेरक सही ।

(ख) जय सगुन निर्गुन रूप रूप अनूप भूप सिरोमने ॥

(ग) सगुन अगुन गुनमंदिर सुन्दर । भ्रमतम प्रबल प्रताप दिवाकर ॥

(घ) निर्गुण सगुन विषय समरूपं, ज्ञानागिरा गोतीतमरूपं ।

संक्षेप में तुलसीदास जी के राम माता कौशल्या के गर्भ में उत्पन्न, दशरथ नन्दन अवधबिहारी, मानवरूपधारी होते हुये भी निर्गुण हैं। वे 'देवाधिप' हैं, महाविष्णु हैं। अतएव निश्चय ही वे अद्वितीय.....एक मात्र ब्रह्म हैं।

कबीर के राम

सगुणोपासक गोस्वामी जी और निर्गुणोपासक कबीरदास जी ने परब्रह्म के लिये 'राम' शब्द का ही प्रयोग किया है। यद्यपि दोनों विचारकों की 'राम' विषयक धारणा भिन्न है फिर भी नाम एक है। कबीर के राम ही उनके पति पिता और माता हैं। कबीर राम को अवतारी नहीं मानते हैं। उन के अनुसार अवतार माया का दूसरा स्वरूप है। जो ब्रह्म है वह बार बार अवतार नहीं लेता है।[३]

---

[१] सर्वं त्वमेव सगुणो विगुणश्च भूवन् ।
न्यान्यत् त्वदस्त्यपि मनोवचसा निरुक्तम ॥ भा० ७-६-४८

[२] सर्वेन्दियगुणाभासं सर्वेन्द्रिय विवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृच ॥ १३, १४

[३] संतौ आवै जाय सो माया ।
है प्रतिपाल काल नाहि वाके ना कछु गया न आया ।
दस अवतार ईसुरी माया कर्ता कै निज पूजा ।
कहै कबीर सुनौ भाई साधो उपजै खपै सो दूजा ॥

कबीर को ब्रह्म के गुणमय रूप की कल्पना मान्य नहीं है। उनका ब्रह्म सगुण, निर्गुण दोनों से परे है, ऊपर है। अजर और अमर से अतीत है। अवर्ण एवं अरूप से भी परे है।[1] वह सब अभाव से परे है[2]।

गांधी के राम

गांधी जी 'राम' नामी ईश्वर के उपासक थे। प्रार्थना सभा की रामधुन में उसी ब्रह्म 'राम' की बारम्बर प्रार्थना की जाती थी। परन्तु विचारणीय प्रश्न यह है कि गांधी जी का वह राम मानस का राम है या वह कबीर का निर्गुण तथा सगुण ब्रह्म से परे दूसरा राम है। गांधी जी ने अपने लेखों और कथनों में इस बात को बहुत स्पष्ट कर दिया है कि ब्रह्म विषयक उनकी धारणा क्या है। उनके इस कथन से लोग समझ बैठेंगे कि उनके राम दशरथनन्दन राम हैं।

"आज मैं तुलसीदास की रामायण को भक्ति मार्ग का

---

[१] संतौ धोखा कासूं कहिए।
गुन में निरगुन निरगुन में गुन है, बाट छांड़ि क्यूं बहिये॥
अजरा अमर कथै सबू कोई अलख न कथणां जाई।
नाति स्वरूप बारण नहि जाकै घटि घटि रह्यौ समाई॥
प्यंड ब्रह्मंड कथै सब कोई, वाकै आदि अरु अन्त न होई।
प्यंड ब्रह्मंड छाड़ि जे कथिये कहै कबीर हरि सोई॥
क. ग्र. पद १८०

[२] कह्यां न उपजै उपजां नहि जांणै भाव अभाव विहूनां।
उदै अस्त जहां मति बुधि नांही, सहजि राम ल्यौ लीना॥
क. ग्र. पद १७६

सर्वोत्तम ग्रन्थ मानता हूँ।[१] रामचरित मानस के लिए यह दावा अवश्य है कि उस से लाखों मनुष्यों को शान्ति मिली है। जो लोग ईश्वर के विमुख थे, वे ईश्वर के सम्मुख गये हैं और आज भी जा रहे हैं। मानस का प्रत्येक पृष्ठ भक्ति से भरपूर है। मानस अनुभवजन्य ज्ञान का आगार है[२]।"

गांधी जी के राम सन्त कवियों के जैसे निर्गुण राम हैं। उनके शब्दों में ही उनके राम की व्याख्या सुनिये:—"ईश्वर निश्चय ही एक है। वह अगम अगोचर और मानव जाति के बहुतन समाज के लिए अज्ञात है। वह सर्वव्यापी है। वह अजन्मा है, उसके न माता है न पिता न सन्तान। फिर भी वह माता, पिता, पत्नी या सन्तान के रूप में पूजा ग्रहण करता है[३]।" गांधी जी के राम अयोध्याधिपति के पुत्र नहीं हैं[४]। वह मन स्वरूप बाणी से परे हैं[५]। ब्रह्म विषयक धारणा को

---

(१) आत्म-कथा भाग १, अ० १०, पृ० ३६।

(२) हिन्दी नवजीवन। १० . . १०, २६

(३) स्वतन्त्र भारत १५, २, ४८ पृ० ३ कालम ५।

(४) My Rama, the Rama of our prayers is not the historical Rama, the son of Dashrath the king of Ayodhya. He is eternal, the unborn, the one without a second. Him alone I worship. His aid alone I seek and so should you. He belongs equally to all.

April 28, 1946

(५) इस परमेश्वर का स्वरूप मन और बाणी से परे है। इसके सम्बन्ध में हम इतना ही कह सकते हैं कि यह परमेश्वर अनन्त, अनादि, सदा एक रूप रहने वाला, विश्व का आत्मारूप, अधाररूप और विश्व का कारण है। इसी का सनातन अस्तित्व है। यह ज्ञान सत्यरूपी परमेश्वर की निर्गुण भावना है।

सरस्वती मार्च १६४८, पृ० २२८, २२६

स्पष्टतया समझने के लिए गांधी जी के निम्नलिखित वाक्य पठनीय हैं:—

"हमें जिन राम के गुण गाने हैं, वे राम बाल्मीकि के राम नहीं हैं, तुलसी रामायण के राम नहीं हैं···और न गिरिधर दास के राम हैं।·····ये राम तो दशरथ के कुंवर या सीता के पति राम नहीं हैं। ये तो देहधारी राम हीं नहीं हैं। जो हमारे हृदय में बसते हैं वे राम देहधारी हो ही नहीं सकते। अंगूठे के समान छोटा सा तो हमारा हृदय और उस में भी समाये हुए राम देहधारी क्योंकर हो सकते हैं।[1]

इन उद्धरणों को ध्यानपूर्वक पढ़ने से ज्ञात हो जाता है कि गांधी और कबीर के राम में बहुत साम्य है। दोनों विचारकों की राम विषयक धारणा में पूर्ण सामंजस्य है। वही गांधी का परब्रह्म राम संसार के सृजक और पालक हैं। उसकी इच्छा से संसार के सभी कार्य संचालित होते हैं। उसकी इच्छा के विरुद्ध एक तिनका भी नहीं हिलता है[2]।

कबीर[3], मलूक[4], तुलसी[5] आदि के ब्रह्म के समान ही

---

(१) धर्मपथ—गांधीजी, पृ० १६

(२) God is creator, the ruler and the lord of universe and not a blade of grass moves but by his will'—The political philosophy of Mahatma Gandhi By Dr. G. N. Dhawan Page 38

(३) चारि वेद जाके सुमृत पुरानां। नौ व्याकरनां मरम न जानां।
सेस नाग जाके गएउ समानां। चरन कंवल कंवला नहिं जाना।
कबीर ग्रन्थावली पद ४६

(४) जाकहं सुमीरहि संत नरेशा। जाकंह सुमीरहि सारद सेसा।
जाकहं सुमीरहि सिद्धि चौरासी। जाकहं सुमीरहि दीगज चारी।

गांधी जी के रघुपति राघव राजाराम पतितपावन सीताराम ब्रह्मांड की समस्त शक्तियों से वन्दित हैं[1]। वह अनन्त शक्ति है। वह विश्व का रचयिता एवं संहारक है। जगत की रचना और विनाश उसी की इच्छा से होता है। बिना उसकी इच्छा के दूब की एक पत्ती भी नहीं हिल पाती है। वह अप्राकृत गुणधारी है। गांधी जी ने निर्गुण ब्रह्म को संतों की भांति ब्रह्म, सीताराम, ईश्वर, अल्लाह, पतितपावन, राम, रहीम, गोविन्द, राजाराम, हरि, करीम, राघव, कृष्ण, हजरत, काजी तथा दयानिधान आदि नामों से सम्बोधित किया है। गांधी जी के भाषणों तथा लेखों[2] में इन नामों का उल्लेख बारम्बार हुआ है। उपर्युक्त इन सभी नामों में राघव, रघुपति, राजाराम, पतितपावन, सीताराम, ईश्वर, अल्लाह, करीम, रहीम आदि का अधिक प्रयोग हुआ है। कहीं राघव और रहीम का प्रयोग साथ साथ किया है। इसके द्वारा प्रयुक्त नामों का उल्लेख गांधी जी ने हिन्दू तथा मुसलमानों के व्रत में एकत्व प्रदर्शित करने के लिए किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उन्होंने आचार्य

जाकहं सुमीरहि सर्व धर्मचारी। जाकहं सुमिरहि ऋषि सन्यासी।
जाकहं सुमीरहि धरती अकासा। जाकहं सुमिरहि अनल बतासा।
भक्ति विवेक

(५) राम चरित मानस, पृ० १०६, ११० मूलगुटका, गीताप्रेस, दशमसंस्करण।

(१) उद्धरणों के लिए देखिए 'गांधी के राम' १५ फरवरी १९४८ स्वतन्त्र भारत।

(२) विशेष रूप से हरिजन में

बल्लभ की भांति इसे विभिन्न धर्मत्व को धारणकर्ता कहा है[1]। गांधी से पहले कुछ पहले सन्तों ने उभय वर्गों द्वारा प्रयुक्त ब्रह्म के विभिन्न नामों को एक साथ रख कर जनता के समक्ष अद्वैत ब्रह्म की भावना लाने का भगीरथ प्रयत्न किया था[2]।

निर्गुण तथा सगुण ब्रह्मोपासकों में ब्रह्म के स्मरण एवं जप के लिए नाम एक महत्वशील साधन माना गया है। सम्प्रदायों के प्रवर्तकों ने तो ब्रह्म के नामों को ही परमात्मा का प्रतीक माना है। कबीर[3], मलूक[4] आदि ने नाम की महिमा का बड़ा गान किया है। इन निर्गुण भक्तों के अतिरिक्त गोस्वामी तुलसीदास ने भी नाम का बड़ा गुणगान किया है। वे राम से भी अधिक महत्वपूर्ण नाम को समझते हैं कारण कि "राम एक तापसि तिय तारी" लेकिन "नाम कोटि खल कुमति सुधारी[5]। नाम की बड़ाई करते करते जब गोसाईं जी हार जाते हैं[6] तो अन्त में यहां तक कह देते हैं कि "रामु न सकहिं नाम गुन गाई[7]।" गांधी जी भी इस राम नाम के बहुत बड़े समर्थक थे, नाम के प्रति संतों के जैसी भावना गांधी जी में बाल्यावस्था से ही स्थान पा चुकी थी। बाल्यावस्था में गांधी जी ने एक बार अपने यहां की दासी से सुना कि 'राम नाम' जपने से भय नहीं

---

(१) देखिये लेखक का ग्रन्थ 'मलूकदास' पृ० १६१

(२) दे० सं० संग्रह भा० १ व २ (३) क० ग० पद ४६

(४) मलूक की वाणी पृ० ३३ तथा 'रतनखान' का प्रथम

(५) मानस १।२२।३
,, १।२३।६
,, १।२३।८
,, १।२५।२८

(६) मानस १।२३।२
,, १।२३।७
,, १।२४
(७) ,, १।२५।८

लगता था। गांधी भूतप्रेत से भयभीत रहते थे अतएव 'राम' नाम लेने से उनका भय दूर हो जाता था। जो बीज बाल्यावस्था में गांधी जी के हृदय में बोया गया था वह बाद में जाकर पुष्पित एवं पल्लवित हुआ। जीवन में उनके संकट कालों में गांधी जी के कष्ट 'नाम' के जप से ही दूर हुए[1]। गांधी जी की प्रार्थना सभा इस बात का प्रमाण है कि राम नाम से उनको कितना प्रेम था, राम 'नाम' के प्रति जो प्रेम हमारे यहां कबीर[2], तुलसीदास[3], हरिदास[4], दूलनदास[5], सहजोबाई[6], गरीबदास[7] तथा पलटू[8] आदि सन्तों में दिखाई देता है उसका निर्वाह गांधी जी ने बड़ी श्रद्धा के साथ किया है।

भारतीय दर्शन शास्त्र में 'अहिंसात्मक जीवन' के प्रति बड़ा महत्व प्रदर्शित किया गया है। हिन्दू धर्म के प्राचीन ग्रन्थों में 'अहिंसा' को सत् जीवन का एक आवश्यक तत्व माना गया है। हिन्दुओं में अहिंसात्मक प्रवृत्ति सदैव उत्कर्ष पर रही है। इतिहास उसका साक्षी है। असंगत न होगा यदि कहा जाय कि अहिंसात्मक प्रवृत्ति हिन्दू धर्म एवं जीवन की एक महान् एवं बहुमूल्य निधि है। समय समय पर जन्म लेने वाले छोटे बड़े सभी सम्प्रदायों, पंथों तथा धर्मों में अहिंसात्मक भावना को महत्व दिया गया[9]। गौतम के 'कल्पसूत्र में उसका बड़ा महत्व

---

(१) नवयुग (२) सन्त० संग्रह भा० १ पृ० ४, ६
(३) सन्त० संग्रह भा० १ पृ० ७०,७१ (४) ,, ,, ,, ,, १२१,१२२
(५) ,, ,, ,, ;, १३४, १३६ (६) ,, ,, ,, ,, १५५, १५६
(७) ,, ,, ,, ,, १८४, १८६ (८) ,, ,, ,, ,, २१४
(९) विशेष विवरण के लिए देखिए Ethics of India by Prof. E. W. Hopkins.

वर्णित है[1]। बौद्ध धर्म में अहिंसा व्रत को समस्त धर्मों से उच्च और महान् माना गया है। 'अहिंसा परमोधर्मः' उनका मूलमंत्र एवं सिद्धान्त सूत्र है[2]। जैन धर्म में धर्म के ५ व्रतों[3] में उसे प्रथम स्थान प्रदान किया गया है[4]। यह तो हुई धर्मों की बात। सम्प्रदायों तथा पंथों में भी अहिंसा का गुणगान सविस्तार हुआ। मध्य युगीन सन्तों ने इसके प्रचार एवं प्रसार के लिए बड़ा प्रयत्न किया। नानक ने गाय और बकरी को एक ही प्रकार से अवध्य माना है—

क्या बकरी क्या गाय है क्या अपना जाया।
सबका लोहू एक है साहिब फरमाया।
पीर पैगम्बर औलिया सब मरने आया।
नाहक जीव न मारिये पोषन को आया।

कबीर ने देखिये कितने सरल शब्दों में अहिंसा व्रत पालन करने का उपदेश दिया था।

मास मास सब एक है, मुरगी हिरनी गाय।
आंख देखि जे खात है ते नर नरकहि जाय।

---

(१) कल्पसूत्र २–१६–२३, ६–७
(२) बौद्ध दर्शन–पण्डित बल्देव उपाध्याय
(३) पंचव्रत—अहिंसा, सत्य अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह
(४) देखिये Outlines of Indian Philosophy by Hiriyanna P. 166 तथा
Outlines of Jainism by J. Jaini (Cambridge University Press.)

कबीर और नानक के समान ही दादू तथा मलूक ने भी अपने अपने सम्प्रदायों में अहिंसा का उपदेश बार बार दिया था।

१. *आपन को मारै नहीं पर को मारन जाइ।*
दादू आपा मारे बिना कैसे मिलै खुदाइ॥

२. *पीर सबन की एक सी मुरगी हिरनी गाय।*
आंख देखि जे खात हैं ते नर नरकहि जाय॥ मलूक॥

इसी प्रकार रैदास, जगजीवनदास, दरिया साहब, तुलसी साहब आदि सन्तों ने अपने अपने समय में इस उपदेश को दोहराया तथा ज़ोर दिया है। धर्मों के प्रवृतकों तथा इन सन्तों के उपदेश में बहुत कुछ साम्य है। जब वे अहिंसा के विषय में लिखते हैं तो उनका अर्थ है 'न वध करना' 'जीव न मारना'। 'हिंसा न करना' ही उनके उपदेश का सार तत्व है। यह अहिंसा का सीमित अर्थ है। परन्तु गांधी जी की अहिंसा का बहुत ही व्यापक अर्थ एवं क्षेत्र है।

अहिंसा की परिभाषा

गांधी जी के मतानुसार किसी को न मारना मात्र ही अहिंसा नहीं है[1] वरन् वास्तविक अहिंसा है किसी को भी किसी भी प्रकार की हानि न पहुँचाना[2]। उनके शब्दों में

---

1. Literally speaking Ahimsa means non-killing. But to me it has a world of meaning and takes me into realms much higher.....than the realm to which I would go if I merely understand by Ahimsa non-killing—Teaching by Mahatma Gandhi p. 405.

2. Ahimsa is not the crude thing it has been made to appear. Not to hurt any living being or thing is no doubt a part of Ahimsa— Do Do page 404,

"आज हम जिस स्थूल वस्तु को देखते हैं वही यह अहिंसा नहीं है। किसी को कभी न मारना तो है ही। कुविचार मात्र हिंसा है। उतावलापन, जल्दीपन हिंसा है। मिथ्याभाषण हिंसा है। द्वेष हिंसा है। किसी का बुरा चाहना हिंसा है। जिसकी दुनिया को जरूरत है उस पर कब्जा रखना भी हिंसा है[1]। अहिंसा का वास्तविक अर्थ है जानबूझकर कष्ट सहन करना। परन्तु साथ ही इसका यह अर्थ नहीं है कि कुकृत्य करने वाले दुष्ट व्यक्ति के समक्ष विनम्र समर्पण कर देना ही अहिंसा है। इसका अर्थ है अत्याचारी की इच्छा एवं निर्णय के विरुद्ध अपनी आत्मिक शक्ति को लगा देना[2]। दुष्टतापूर्ण कार्यों का विरोध तथा विनाशकारी प्रवृत्तियों के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए अहिंसा बहुत ही सक्रिय तथा सजीव साधन है[3]। अहिंसा व्रतधारी के लिए प्रतिशोध, प्रतिवाद तथा प्रतिहिंसा अपना अस्तित्व नहीं रखते हैं। गांधी जी के अनुसार प्रतिवाद की भावना पर स्वतः आत्मनियंत्रण रखना ही अहिंसा का दूसरा रूप है[4]। अहिंसा के क्षेत्र में प्रतिकार की भावना अपना अस्तित्व खो देती है और सद्प्रवृत्तियों में परिवर्तित हो जाती है।

---

1. धर्मपथ–गांधी–पृ० ११६
2. Non-violence in its dynamic conditions means conscious suffering. It does not mean meek submission to the will of the tyrant.
   —Young India Nov. 11, 1920.
3. The non-violence of my conception is more active and more real fighting against wickedness.
   —Do Do Oct. 8, 1925.
4. It is a conscious deliberate restraint put upon one's desire for vengeance —Do Do Aug. 19, 1926.

अहिंसा की शक्ति

अहिंसा की शक्ति बहुत बड़ी होती है। वह न केवल निर्बल का बल है वरन् सबल भी उस से एक दिव्य शक्ति प्राप्त करते हैं। वह हिंसा से भी उसी प्रकार उच्च तथा विशाल है जैसे 'क्षमा' 'प्रतिकार' की भावना से महान् है[1]। 'सत्य और अहिंसा' गांधी जी के शब्दों में संसार में सबसे महान शक्ति हैं[2]। न केवल सबसे अधिक सक्रिय साधन है वरन् असीम शक्ति हैं। वह हिंसात्मक विरोध या अवज्ञा से भी तुलना में महान हैं[3]। अहिंसा में कितनी महान् शक्ति है यह अब विवाद का विषय नहीं है। गांधी जी की इस अहिंसा की शक्ति के आगे बृटिश साम्राज्य की तोपें, तलवारें और बन्दूकें झुक गईं। अहिंसा सविनय अवज्ञा का मूल तत्व है। और इसी अहिंसा तथा सविनय अवज्ञा से भारतवर्ष स्वतन्त्र हुआ।

अहिंसा की शिक्षा कहां से हो ?

अहिंसा की शिक्षा कहां दी जाय, यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। इस के लिए पाठशाला तथा कालेज नहीं खोले जा सकते हैं। यह तो एक प्रकार का विश्वास है एक सिद्धांत है जिसका परिपालन एवं अभ्यास होना चाहिए[4]। गांधी जी के शब्दों

---

1. I believe that non-violence is infinitely superior to violence, forgiveness is more manly than punishment.
—Do Do Aug. 11, 1920.
2. It is the greatest and activest force, in world.
—Harijan March 14, 1936.
3. Passive resistance is misnomer for non-violent resistance. It is much more active than violent resistance. —Harijan 20-3-37.
4. Non-violence cannot be preached. It has to be practised —Harijan 20-3-37.

में अहिंसा का उपदेश नहीं दिया जा सकता है वरन् उसका अभ्यास करना चाहिए।[1] यदि कोई व्यक्ति पारस्परिक व्यवहार में अहिंसा का प्रयोग नहीं करता है और आशा करता है कि वह उसका उपयोग बड़ी बड़ी समस्याओं तथा कार्य में करेगा तो वह उसकी भूल है। अहिंसा सर्वप्रथम घर में व्यवहृत होनी चाहिए।[2] जिस प्रकार उदारता एवं दान की प्रवृत्ति घर से प्रारम्भ करनी चाहिए ठीक उसी प्रकार अहिंसा का बर्तना घर से प्रारम्भ होना अभीप्सित है। घर अथवा कुटुम्ब अहिंसा के पाठ को पढ़ने के लिए सर्वोत्तम स्थान हैं। यहीं पर इस कठिन सिद्धांत के वर्णाक्षर सीखे जा सकते हैं।[3]

सामाजिक गुण

गांधी जी के मत से अहिंसा व्यक्तिगत गुण नहीं है वरन् यह सामाजिक गुण है जिसका अभ्यास अन्य गुणों के समान ही करना परमावश्यक है। अहिंसा के पाठ को सीखे हुए व्यक्ति के लिए "बसुधैव कुटुम्बकम्" बन जाता है[5]।

---

1. Non-violence cannot be preached. It has to be practised. —Harijan 20–3–37.
2. If one does not practise non-violence in one's personal relations with others and hopes to use it in bigger affairs one is vastly mistaken. Non-violence like charity must begin at home—Harijan Jan. 28, '39.
3. The alphabets of Ahimsa is best learnt in the domestic school —Harijan 21–7–38.
4. I hold that non-violence is not merely a personal-virtue. It is also a social virtue to be cultivated like other virtues —Harijan 7–11–39.
5. For a non-violent man whole world is one family. —Harijan 12–10–35.

अहिंसा के आवश्यक तत्व

अहिंसा के आवश्यक तत्वों में सर्वप्रथम है "आत्मशुद्धि" तथा अटूट ईश्वर भक्ति। इसके पश्चात् स्वार्थ परित्याग, अहंकार का उपशमन आवश्यक है, इसके बिना अहिंसा के दुर्गम पथ पर कोई भी व्यक्ति नहीं चल सकता है। अपने को वश में रखना, शांत रहना भी अहिंसा के आवश्यक तत्व हैं।[1] न्याय तथा सत्य तो अहिंसा रूपी गाड़ी के दो पहिए हैं। इनके बिना अहिंसा व्रत का पालन नहीं हो सकता है।[2]

अहिंसा वीर का साधन है

अहिंसा, निर्बल नहीं, बलवान एवं सशक्त व्यक्ति का साधन है। तोप तथा तलवार उसके समक्ष नगण्य हैं। यह वीरों का सर्वश्रेष्ठ गुण है। अहिंसा को व्यवहार में लाना तलवार चलाने से भी अधिक वीरता का काम है। अहिंसा और कायरता एक दूसरे से पूर्णतया भिन्न, दूर तथा विपरीत हैं। पानी और आग के समान वे एक दूसरे के पास नहीं टिक सकते हैं[3]। अतएव इसे कायरता का द्योतक समझना महान् भूल है।

गांधी जी के अनुसार अहिंसा के ५ स्वतः सिद्ध सिद्धांत हैं। जिनमें से सर्वप्रथम है यथा सम्भव आत्मशुद्धि। हिंसा

---

1. Harijan 28 1-39.
2. Do 20-3-37.
3. Non-violence is not a cover for cowardice but it is supreme virtue of the Brave.
—Young India 12-8-26.

Ahimsa is an attribute of the brave. Cowardice and Ahimsa do not go together any more than water and fire.
—Harijan 4-11-39.

का उपशमन, हिंसा की अपेक्षा अहिंसा की श्रेष्ठता, अहिंसा की अवश्यम्भावी विजय तथा अहिंसा का दिव्य प्रभाव, अन्य चार सिद्धान्त हैं[1]।

अहिंसा का उत्तरोत्तर विकास एवं भविष्य

अहिंसा उत्तरोत्तर विकास पर है। इतिहास इसका साक्षी है। इतिहास के पृष्ठ आज भी बतलाते हैं कि एक समय था जब कि हमारे देश के आदिम लोग मानव भक्षी थे। इस के पश्चात् मानव समाज का वह स्तर आता है जब उसने मानव भक्षण का परित्याग करके शिकार करना प्रारम्भ कर दिया। इस समय वह अन्य जीवों का वध कर के अपना पोषण करने लगा। इसके बाद वह स्तर आता है जब मानव समाज शिकारी का जीवन व्यतीत करना अपने लिए अपमान-जनक समझने लगा, अतएव उसने खेती करना प्रारम्भ कर दिया और अन्न पर जीवित रहने लगा। यह सभी स्तर इस बात के द्योतक हैं कि मानव जाति शनैः शनैः हिंसा से अहिंसा की ओर बढ़ रही है। अहिंसा वृत्ति जनप्रिय बनती जा रही है। गौतम बुद्ध, जैन सिद्धों, कबीर, दादू, नानक, मलूक तथा रैदास आदि ने जिस उपदेश को बार बार दोहराया था वह इस युग में गांधी के कंठ से एक विश्वास तथा सिद्धान्त के रूप में प्रस्फुटित हुआ। परन्तु दादू, कबीर, नानक आदि सन्तों तथा गौतम बुद्ध आदि की अहिंसा 'न मारने के सीमित' अर्थ में प्रयुक्त हुई है। गांधी जी ने इस को व्यापक एवं वृहद् रूप प्रदान किया। गांधी की अहिंसा में उनके मौलिक व्यक्तित्व तथा दैवी गुणों की झलक मिलती है। अहिंसा का भविष्य उज्ज्वल है। अहिंसा ने भारत को स्वतन्त्रता दिलाई और इसी

1—Harijan 12-10-35.

पथ पर अग्रसर होकर भारतीय जन अपने देश को संसार का सर्वश्रेष्ठ देश बना सकेंगे। समय दूर नहीं है जब यह देश अहिंसा के अलौकिक प्रकाश से आलोकित होकर अन्य देशों को प्रकाशित करेगा।

सत्य

सन्तों ने सत्य पर बड़ा ज़ोर दिया है। कबीर के शब्दों में यदि हृदय में सत्यता है तो प्रभु के दरबार में कर्मों का हिसाब देना कठिन नहीं है। सत्य के समान दूसरा तप नहीं है[१]। दादू ने तो अल्लाह का नाम ही सत्य का पर्याय मान लिया है[२]। इसी प्रकार जगजीवनदास[३], चरनदास[४], नानक[५], धर्मदास[६], पलटूदास[७] आदि विचारों ने 'सत्य' की महिमा का गान किया है। सत्य का महान फल है। वह सूर्यवत् प्रकाशमान है। छिपाया नहीं जा सकता। राजनीति के क्षेत्र में सत्य का कम महत्व नहीं है। परन्तु पाश्चात्य प्रभाव के

---

(१) लेखा देना सहज है जो दिल सांचा होय।
तथा सांच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।

(२) सांचा नांव अल्लाह का सोई सत करि जाणि।
निहचल करलै बन्दगी, दादू सो परवाणि॥

(३) सत समरथ तें राखि मन, करिय जगत का काम।
जगजीवन यह मन्त्र है सदा सुक्ख बिसराम॥

(४) झूठे को तज दीजिए, सांचे में करि गेह।

(५) आदि साधु जिनहि सचु, है भो सचु 'नानक' होसी भी सचु।

(६) हम सत्य नाम के बैपारी।

(७) पलटू नेरे साच के झूठे से है दूर।
दिल में आवै सांचो जो, साहिब हाल हजूर॥

कारण हम समझने लगे हैं कि राजनीति और सत्य में उत्तर एवं दक्षिण दिशाओं का सा अन्तर है। परन्तु गांधी जी ने राजनीति में सत्यता को बरत कर इस सामान्य धारणा को निराधार सिद्ध कर दिया है। सत्य ही तो गांधी जी का युद्ध प्रदर्शन था। गांधी जी के अनुसार सत्य नैतिकता का सार है[1]। अतएव गोलियों की बौछार में भी सत्य बोलना चाहिए[2]। कुकृत्यों का कोई भी आवरण सत्य को आवृत्त नहीं कर सकता है[3]। हर प्रकार से जीवन को खतरे में डाल कर गांधी जी ने सन्तों द्वारा प्रतिपादित 'सत्य' का परिपालन किया और आजीवन उसका निर्वाह किया चाहे वह जिन्ना के साथ व्यवहार में हो या अंग्रेज़ों के साथ।

हिन्दू मुसलिम ऐक्य

मध्य युगीन सन्तों ने निरन्तर हिन्दू मुसलमानों के मध्यस्थ भेदभाव की खाई को पाटने के लिए प्रयत्न किया। परन्तु दुर्भाग्य आगे आगे रहा। उभयवर्गीय भेदभाव को समूल नष्ट करने के लिए जितने ही प्रयत्न किये गये भेदभाव बढ़ता ही गया। धर्म के मूल तत्वों को बिसार कर और मूर्ति तथा कुरान की आड़ लेकर दोनों जातियों ने एक दूसरे को मिटाने का यथाशक्ति प्रयत्न किया। पारस्परिक भेदभाव की यह

---

1. Morality is the basis of things and Truth is the substance of all morality—My experiments with Truth p. 37.
2. We must speak Truth under a shower of bullets. —Young India Jan. 5, 1922.
3. No veil of darkness can ever cover up truth from view for all time. —Young India Jan. 12, 1922.

भावना सन्तों को असह्य थी। सन्तों के साथ यह कोई नवीन बात नहीं थी। भविष्य पुराण,[1] महाभारत[2] जैसे प्राचीनतम ग्रन्थों से यही स्वर निकलता है। धैर्य और सहन की भी एक सीमा होती है। मुसलमानों के उत्पीड़न से हिन्दू अपने प्राचीन ग्रन्थों के उपदेशों को भूल गये। कबीर ने दोनों जातियों में एक्य स्थापित करने के लिए बड़ा प्रयत्न किया। कबीर ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि दोनों में कोई अन्तर नहीं है। दोनों का एक ही सृजक है[3]। और उस सृजन में कोई अन्तर नहीं है। इस बात पर कबीर[4] ही नहीं दादू[5], मलूक[6],

(१) धर्म यो बोधते न स धर्मः कुवर्त्यतत् (अर्थात् जो धर्म अन्य धर्मों को पीड़ा देता है वह धर्म नहीं है वरन् धर्मकी विडम्बना मात्र है)

(२) चत्वार एकस्य पितुः सुताश्च, तेषां सुतानाम खलु जाति रेको।
एवं प्रजानां हि पितैक एव, पित्रैक भावान् नतु जाति भेदः॥

(३) कहैं कबीर एक राम जपहु रे। हिन्दू तुरक न कोई।
हिन्दू तुरक का करता एकै। तागति लखी न जाई।

(४) राम खुदाय शक्ति शिव एकै। कहुं धो काहि निबेरा।
दुई जगदीस कहां से आया। कहु कवने भरमाया।
अल्ला राम करीमा कैसां। हरि हजरत नाम धराया।

(५) कोई राम कोई अल्लाह सुना है, पै अल्लाह राम का भेद न पावै।
अलह कहौ भावै राम कहौ, डाल तजौ सब मूल गहौ।
अल्लह राम कहि करम रहौ, झूठे मारग कहा बहौ?

(६) दास मलूक कहा भरमौ तुम, राम रहीम कहावत एकै।
अलख अल्लाह ब्रह्म खालिक खुदा है एक,
मेरे तो अभेद भाव माया मति खोई है।
कहत मलूकदास मैं तो दुविधा न जानौं, दूजौ
जोई मेरे मन में नैनन में सोई है।

रैदास[1] और रज्जब[2] जैसे सन्तों ने तथा आनन्द घन[3] जैसे माधुर्य के कवियों ने भी बार बार जोर दिया है। गांधी जी ने हिन्दू तथा मुसलमानों में एक्य स्थापना की भावना से प्रेरित होकर ब्रह्म की एकता प्रदर्शित करने के लिए राम को रहीम, कृष्ण को करीम, कह कर सब को सन्मति प्रदान करने के लिए भगवान से प्रार्थना की है।

ईश्वर अल्लाह तेरे नाम।
सब को सन्मति दे भगवान॥

राम को रहीम के साथ देख रामधुन में बाधा देने वालों से देखिए हमारे जननायक ने कितने दृढ़ स्वर में कहा था "प्रार्थना प्रारम्भ करने के पश्चात् मैं रुकने वाला नहीं हूँ चाहे कत्ल ही क्यों न हो जाऊं और उस समय भी आप देखेंगे कि मेरी आखिरी सांस छूटती होगी तब भी मेरे मुँह से 'राम रहीम' 'कृष्ण करीम' का जाप चलता होगा[4]। मध्ययुगीन सन्तों का जो स्वर छन्द में बंध गया वही गांधी जी ने अपनी साधारण भाषा में कितनी सरलता से कह दिया है।

मन्दिर और मस्जिद मानव विनिर्मित हैं। उन में जो भेदभाव का पता लगता है वह मानव सृजित है। वास्तव में दोनों ही एक ही ब्रह्म के निवास के लिए विभिन्न प्रकार से बनी हुई दो अलग अलग इमारतें हैं। मध्ययुग के हमारे सन्तों ने अलग अलग बारम्बार इसी बात को दोहराया है।

---

(१) कृष्ण करीम रहीम राम हरि, जब लगि एक न देखा।
वेद कतेब कुरान पुरानन, तब लगि भ्रम ही देखा॥

(२) नरनारायण देह।

(३) राम कहो रहमान कहो, कान्ह कहो महदेवा।

(४) आजकल····बापू अंक, पृष्ठ १०६।

कबीर ने हिन्दू और मुसलमानों को इस भेदभाव पर बार बार धिक्कारा है। वे कहते हैं कि मन्दिर में राम, मस्जिद में रहीम का बास है लेकिन मन्दिर और मस्जिद से रहित जगह पर क्या ब्रह्म का वास है ही नहीं[१] ? कबीर के पश्चात् दादू,[२] मलूक,[३] बुल्ली साहब,[४] पलटू दास[५] ने भी इन्हीं बातों को स्पष्ट शब्दों में कहा है। इन्हीं सन्तों की भांति उदार भावना गांधी जी में भी थी। रामधुन यदि मन्दिर में हो सकती है तो उन्होंने उसे नोआखाली की मस्जिद में भी साजबाज के साथ की। गांधी जी के निम्नलिखित सीधे सादे वाक्यों का वहां के हिंसक मुसलमानों पर क्या प्रभाव पड़ा यह कम महत्वपूर्ण नहीं है। "वहां नोआखाली में जब मैं घूम रहा था तो खास मस्जिद तो नहीं, पर बिल्कुल ही मस्जिद के पास मैंने अनेक बार प्रार्थना की है। एक बार तो मस्जिद के अहाते में ही, मस्जिद के अन्दर के मकान में भी मैंने प्रार्थना की है। वहां तो मेरे साथ पूरा साज़ बाज़ रहता था। ढोलकी भी बजती थी और तालियों के साथ रामधुन भी होती थी।.....

---

(१) तुरुक मसीति देहरे हिन्दू, दुहुठां राम खुदाई।
जहां मसीति देहरा नाहीं, तरं बिसकी ठकुराई॥

(२) हिन्दू लागे देहरे मुसलमान मसीति।
हम लागै एकैं अलख सों सदा निरंतर प्रीति॥

(३) मसीत सेवारी माणसा तिसकूं करै सलाम।
ऐ न आप पैदा किया, सो ढाहै मुसलमान॥

(४) बुल्ला धर्मशाला विच धाडनी रहंदे, ठाकुरद्वारे।
मसजिदा विच कोस्ती रहंगे, आशिक रहन अलगु॥

(५) हिन्दू पूजै देहरा, मुसलमान महजीद,
पलटू पूजै बोलता, जो खाय दीद पर दीद।

मैं वहां के मुसलमान भाइयों से कहता था कि आप जैसे रहीम का नाम लेते हैं वैसे ही मैं राम नाम लूंगा। रहीम का नाम जो लेते हों उन्हें राम नाम लेने वालों को रोकना नहीं चाहिये। और उन्होंने मुझे राम नाम लेने से रोका नहीं था[1]।".....
सन्तों का जितना तत्कालीन जनता पर प्रभाव पड़ा उस से कहीं अधिक गांधी जी का वर्तमान जनता पर। रुधिर के प्यासे मुसलमानों के बीच मस्जिद के अन्तर्गत रामधुन एक आश्चर्य की बात है। वास्तव में यह उस महामानव के व्यक्तित्व का प्रभाव है।

---

(१) आजकल—बापू अंक, पृ० १०६।

कतिपय पारिभाषिक शब्द

(१) दुलहिन—जीव, माया, सुरति

(२) चित—चोर, चातक, चकवा, पक्षी, चरखा।

(३) अवधू—संसार की माया और बन्धनों से सम्बन्ध विच्छिन्न करके योग की साधना करने वाला वैरागी। यह 'अवधूत' शब्द का अपभ्रंश है।

योविलंध्याश्रमान् वर्णान आत्मं येव स्थितः प्रमान।
अति वर्णाश्रमी योगी अवधूतः स उच्यते ॥

डा० रामकुमार वर्मा का कथन है कि रामानन्द ने अपने अनुयायियों को यह नाम दे रक्खा था क्योंकि उन्होंने रामानुजाचार्य के कर्म कांडों की उपेक्षा करदी थी।

(४) कमल—हृदय, आत्मा।

(५) बाणी—गंगा, शारदा, भागीरथी।

(६) बाती—ज्योति, प्राण, उन्मेष की प्रवृत्ति।

(७) दीपक—शरीर, ज्ञान का प्रतीक, प्रकाश।

(८) तेल—प्रेम।

(९) हाट—बाजार, संसार-मेला।

(१०) मूल—जड़, मुख्य तत्व, मूलाधार चक्र, परब्रह्म।

(११) सद्गुरु—गुरु, सन्तों ने स्वर्णकार, जहाज, नाविक, खेवट, सुरसरि, ज्योति, दीपक, ब्रह्म आदि शब्दों का प्रयोग भी सद्गुरु के लिए किया है।

(१२) चोर (पंच)—काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ आदि पांच विकार।

(१३) खसम—परब्रह्म।

(१४) कहार (पंच)—आंख, कान, नाक, त्वचा, जीभ।

(१५) किसान (पंच)—शरीरस्थ पांच प्राण, उदान, प्रान, समान, अपान, और व्यान। उदान का स्थान मस्तिष्क में, प्रान हृदय में, समान नाभि में. अपान गुह्य स्थान में और व्यान समस्त शरीर में है।

(१६) पनिहारी (पंच)—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध।

(१७) हंसा—नवद्वार के पींजड़े (शरीर) में बन्द जीव, विशुद्ध चैतन्य।

(१८) गुफा—शरीर, गगन, गुफा।

(१६) सिंह—जीवात्मा

(२०) शश—मन, अहंब्रह्म विचार।

(२१) समुद्र—संसार, भव, संताप।

(२२) नारी—जगत, नाड़ी, माया।

(२३) इन्द्रिय—सखी, सहेली।

(२४) नरतन—दिन, दिपस, यौवन।

(२५) संसार—सागर, सीकस, वन।

(२६) माया—बिल्लैय्या, गैय्या, बकरी, नारी।

(२७) जीवात्मा—जुलाहा, पारथ, पुत्र, दुल्हा, सिंह, मूस, भौंरा और योगी।

(२८) मन—मच्छ, मीन, मतंग, हाथी, सियार, साउज, जुलाहा, निरंजन।

(२६) चित्त—भ्रमर, अग्नि, हरिण, मूस।

(३०) वायु—सिंह, गज, व्याघ्र।

(३१) पनिहार (१६)—पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां, पांच प्राण और मन।

(३२) धन—दुलहिन, जीव।

(३३) घड़ा—जीवन शक्ति।

(३४) चार कहार—शव वाहक चार आदमी।

(३५) आठ कुंआ—आठ दिशाएं!

(३६) संगी (पंच)—पांच प्राण।

(३७) द्वादस ऊपर—१० इन्द्रिय, मन और बुद्धि इन बारहों से परे।

(३८) सुग्गा—जीवात्मा।

(३९) पहरिया (चार)—मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार।

(४०) माटी का घर—भौतिक शरीर।

(४१) भंवरा—मुग्ध जीव।

(४२) वाडी—संसार, वाटिका।

(४३) दस दरवाजा—दो नेत्र, दो कान, दो नासी छिद्र, मुख, मूत्रद्वार, मलद्वार और ब्रह्म रन्ध्र। प्रथम नौ में किवाड़ लगे हैं। योगी इनको प्राणायाम द्वारा अवरुद्ध कर सकता है।

(४४) आठ मरातिब—अष्ठ धातु।

(४५) पवन असवार—प्राण।

(४६) पानी का घोड़ा—क्षणभंगुर शरीर।

(४७) सात बीज—चर्म, रुधिर, मांस, मद, अस्थि, मज्जा, वीर्य।

(४८) लरिका (पंच)—पांच इन्द्रियों के विषय।

(४९) आग—विरह, अग्नि, प्राण।

(५०) डाइन—माया, ममता, बुढ़िया।

(५१) चन्द सूर—इडा और पिंगला।

(५२) बंक नालि—कुंडलिनी।

(५३) गंगा—इडा।

(५४) यमुना—पिंगला।

(५५) त्रिवेणी—ब्रह्मरन्ध्र।

(५६) अहेरी—गुरु।

(५७) रूखा—ऊर्ध्व ब्रह्माण्ड।

(५८) गगन गुफा—पिण्ड का सर्वोच्च स्थान, सत्यलोक।

(५९) गगन रस—शून्य चक्र में प्राप्य आनन्द।

(६०) पहुनवां—जीव।

(६१) मृग तृष्णा—विषय सुख।

(६२) नौ कोश—अन्नमय कोश, शब्दमय कोश, प्राणमय कोश, आनन्दमय कोश, मनोमय कोश, प्रकाशमय कोश, ज्ञानमय कोश, आकाशमय कोश, विज्ञानमय कोश।

(६३) देह (छः)—१ *स्थूल देह*—२५ तत्वों, दस इन्द्रिय, ५ प्राण, ४ अंतःकरण और जीव से निर्मित। इसका नाम अवस्था है।

२. *सूक्ष्म देह*—१७ तत्वों अर्थात् ५ प्राण, १० इन्द्रिय, मन और बुद्धि से निर्मित इसका नाम स्पप्न है।

३. *कारण देह*—३ तत्वों अर्थात् चित्त, अहंकार और जीवात्मा से निर्मित। इसका नाम सुषुप्ति है।

४. *महाकारण देह*—दो तत्वों से निर्मित है—वे तत्व हैं अहंकार और जीवात्मा—यह तुरीयावस्था है।

५. *कैवल्य देह*—एक तत्व—चित्-जीवात्मा से बना। यह तुरीयातीत अवस्था है।

६. *हंस देह*—इसमें कोई तत्व नहीं।

(६४) गोमांस भक्षण—जिह्वा को तालु में उलट कर ब्रह्मरन्ध्र की ओर ले जाना।

(६५) आखेटिक—साधक, शिकारी।

(६६) छिरणी—ज्ञान मुद्रा।

(६७) कूकर—मन।

(६८) त्रियोग—कर्म योग, ज्ञान योग, भक्ति योग

(६९) योग चतुष्टय—हठ योग, लय योग, मंत्र योग और राजयोग।

(७०) द्विविध निष्ठा—सांख्य योग और कर्म योग

(७१) द्विविध प्रकृति—परा एवं अपरा

(७२) त्रिविधि पुरुष—क्षर, अक्षर, पुरुषोत्तम (जीव, जगत, परब्रह्म)

(७३) ज्ञान भूमिका (सप्त)—शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसा, सत्वापति, असंसक्ति, पदार्थाभावनी, तुर्यगा।

(७४) द्विविधा भक्ति—अपरा या गौणी, परा या रागात्मक

(७५) भक्ति (नवधा)—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद सेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन।

(७६) नरक द्वार (तीन)—काम, क्रोध, लोभ

(७७) ज्ञान द्वार (तीन)—श्रद्धा, तत्परता, इन्द्रिय संयम।

(७८) विरह (तीन)—भूत, वर्तमान और भावी

(७९) विरह की दशायें (दश)—चिन्ता, जागरण, उद्वेग, कृशता, मलिनता, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, मोह और मृत्यु

(८०) चतुर्विध भाव—भावोदय, भाव सन्धि, भाव शाबल्य और भावशांति

(८१) आसन—१०८ या ८४—प्रधान हैं पद्मासन और स्वस्तिकासन।

(८२) मुद्रा एवं बन्ध—अनेक पर २५ मुख्य हैं। महामुद्रा, नभो-मुद्रा, उड्डीयान बन्ध, जालंधर बन्ध, मूल बन्ध, महाबन्ध, महाबेध खेचरी विपरीत करणी, योनि, वज्रोलि, शक्ति-चालनी, तड़ागी, माण्डवी, शाम्भवी, अश्विनी, पाशिनी, काकी, भातड़रि, भुजंगिनी और पांच धारणायें।

(८३) धारणायें (पंच)—पार्थिव, आम्मसी, वैश्वानरी, वायवी और आकाशी।

(८४) षट कर्म—धौती, गजकरणी, वस्ति, नौलि, नेति और कपालभाति

(८५) दैनिक श्वास—२१६००

(८६) नाड़ियां (तीन)—इडा, पिंगला, सुषुम्ना

(८७) प्राणायाम—पूरक, कुम्भक, रेचक

(८८) पांतजलोक्त प्राणायम (चतुर्विध)—आभ्यन्तर, वाह्य, तथा दो प्रकार के केवल प्राणायाम

(८९) मार्ग (तीन)—पिपीलिका मार्ग, दादुर मार्ग, विहङ्गम मार्ग।

(९०) पंचाकाश—आकाश, महाकाश, पराकाश, तत्वाकाश एवं सूर्याकाश।

(९१) अष्टांगयोग—यम नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार ध्यान, धारणा, समाधि।

(९२) यम—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह

(९३) नियम—शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान

(९४) संयम—धारणा, ध्यान एवं समाधि

(९५) पंच क्लेश—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश।

(९६) साधन (सप्त)—शोधन, दृढ़ता, स्वैर्य, धैर्य, लाघव,

प्रयत्यक्षा, निर्लिप्तता ।

(९७) योग के विघ्न—व्याधि, स्त्यान, संशन, प्रमाद, आलस्य, विषय तृष्णा, भ्रांति, फल में सन्देह, चित्त की अस्थिरता, दुःख, मन की खराबी, देह की चंचलता, अनियमित और उत्तेजक आहार, ब्रह्मचर्य का नाश, झूठे कुगुरू गुरू का शिष्यत्व, 'सद्गुरु का अपमान, ब्रह्म में अविश्वास, सिद्धि कामना, अल्प सिद्धि में सफलता मानना, विषयानन्द, पूजा करवाना, गुरु बनना, दम्भ करना ।

(९८) अष्ट सिद्धि—अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति प्राकाम्र्य, ईशित्व और यत्र कामावसायित्व ।

(९९) चतुर्विध साधक—मृदु, मध्य, अधिनाम और अधिमात्रतक

(१००) अवस्थायें (चार)—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय

(१०१) पंचभूत—क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर

(१०२) त्रिशक्ति—ऊर्ध्व (कंठ में); अधः शक्ति (गुदा में) और मध्य शक्ति (नाभि में)

(१०३) चतुर्विध वाणी—परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी ।

(१०४) वर्ण—पचास ('अ' से० 'ह' तक)

(१०५) ग्रन्थि (तीन)—ब्रह्म ग्रन्थि, विष्णु ग्रन्थि, रुद्र ग्रन्थि ।
